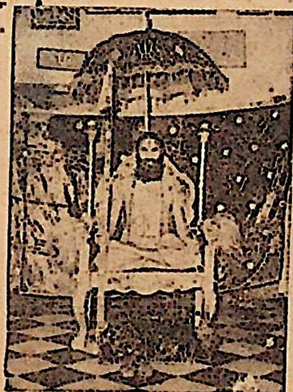
श्रीमते रामानुजाय नमः ॥ श्रीवादिभीकर महागुरवे नमः

भगवत्पाद-श्री रामानुजाचार्य प्रणीत

-: हिन्दी श्रीभाष्य :-

(त्रयोदश भाग)

सम्पादकः- जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र



रामनारायणाचार्य जी महाराज

हिन्दी व्याख्याकार

श्री शिवप्रसाद द्विवेदी (श्रीधराचार्य)

साहित्य वेदान्ताचार्य, एम०ए० (द्वय)

वेदान्त विभागाध्यक्ष, श्रीहनुमत् स० म० विद्यालय

हनुमानगढ़ी, अयोध्या

प्रथमावृत्ति	मूल्य	प्रौष्ठपदी
१०००	४) रुपये	२०३६ विक्रमाब्द

डाक व्यय पृथक



❀ समर्पण ❀

श्री १००८ श्रीमद् वेदमार्ग प्रतिष्ठापनाचार्योभय वेदान्त प्रवर्तकाचार्य सत्सम्प्रदायाचार्य श्रीपति पीठस्थ सिंहासनाधिपति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य जगद्गुरु भगवदनन्तपादीय



श्रीमद् विष्वक्सेनाचार्य श्री त्रिदण्डिस्वामिन्

परमाचार्य !

आपकी ही कृपा समृद्धि से समुद्भूत श्रीभाष्य खण्ड पुष्पों की महामाला के इस त्रयोदशम् पुष्प २०३५ वर्षीय, प्रौष्ठपदी के पावन पर्व पर श्रीमत्क श्रीचरणों को समलंकृत करने का साहस इस विश्वाससे कर रहा हूँ कि श्रीमान् अपनी वस्तु को इस नव परिवेश में प्रेक्षण जन्य अमन्दानन्द का अनुभव करेंगे।

श्रीमत्कपद्मपराग लिप्सु श्रीधराचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी

श्यामसदन कटरा, अयोध्या (उ० प्र०)



❀ पुरोवाक् ❀

जयन्ति योगीन्द्र–मुनीन्द्र–वन्दितरः ।
प्रपन्न–वृन्दावनयज्ञदीक्षिताः ॥
समस्त–वेदान्त–विचार–शिक्षकाः ।
श्रीविष्वगार्याङ्घ्रिसरोजरेणवः ॥

वेदज्ञों के सारतम सैद्धान्तिक अर्थ तत्त्वत्रय हैं। औपनिषद सिद्धान्तावलम्बी विद्वानो का अभिप्राय है कि तत्त्वत्रय के प्रतिपादन में ही सम्पूर्ण वेदों का अभिप्राय है। चित् = चेतन, अचित् = जड़ा प्रकृति तथा ईश्वर ये तीन ही तत्त्व तत्त्वत्रय के नाम से अभिहित किये जाते हैं। जगत् में जितने जड़ पदार्थ हैं, जो किसी प्रकार की भी जानकारी नहीं रखते वे अचित् के नाम से अभिहित किये जाते हैं। इन जड़ पदार्थों में पञ्च महाभूत तथा काल का तो साक्षात्कार होता है किन्तु पञ्चतन्मात्राएँ, पञ्च ज्ञानेन्द्रियां पञ्च कर्मेन्द्रियाँ मन, अहंकार तथा प्रकृति का शास्त्र समर्थन ही करते हैं। इन अचेतन पदार्थों की आत्मा चेतन पदार्थ होता है। चेतन पदार्थ ज्ञानवान् होते हैं। चेतन पदार्थ ही प्रत्यगात्मा के नामसे अभिहित किये जाते हैं। चेतन एवं अचेतन पदार्थों में स्वरूपतः एवं स्वभावतः महान् भेद हैं। जड़ पदार्थ स्वरूपतः ज्ञानशून्य, परप्रकाश एवं भोग्य होते हैं। किन्तु चेतन

पदार्थ स्वरूपतः ज्ञानवान्, स्वयं प्रकाश एवं भोक्ता होते हैं। उन दोनों में स्वभाव का भेद यह है कि जड़ पदार्थों का स्वरूपतः अन्यथाभाव (परिणाम) होता है किन्तु चेतन पदार्थों का कभी स्वरूपतः परिणाम नहीं होता। वे निर्विकार होते हैं।

यह चेतन पदार्थ ही जीवात्मा है—जीवात्मा असंख्य हैं, फिर भी उनके तीन विभाग किये जाते हैं— [१] बद्ध, [२] मुक्त एवं [३] नित्य। संसार के बन्धन में पड़े हुए जीव बद्ध कहलाते हैं। संसार के बन्धन से छूटकर श्रीभगवान् के दिव्य-धाम में पहुंचे हुए जीव मुक्ति कहलाते हैं। जो जीव न तो कभी संसार के बन्धन में आये हैं और न तो आने वाले हैं, जो सदा भगवान् के पार्षद बनकर उनका कैंकर्य किया करते हैं, वे जीव नित्य कहलाते हैं।

इन तीनों प्रकार के जीवों से परमात्मा अत्यन्त विलक्षण हैं। परमात्मा को शास्त्रों में परब्रह्म, ईश्वर, नारायण, पुरुषोत्तम, विष्णु इत्यादि नामों से अभिहित किया गया है। परमात्मा एवं जीवात्मा में भेद का प्रतिपादन शास्त्रों में कई दृष्टियों से किया गया है उनमें कुछ दृष्टियाँ निम्न प्रकार की हैं।

१- जीव त्रिविध ताप युक्तत्व, असत्संकल्पत्व, कर्मवश्यत्व आदि दोष पाये जाते हैं, किन्तु परमात्मा में स्वभावतः कोई भी दोष नहीं है। उनका यह स्वभाव है कि वे अपने आश्रित जीवों के भी सभी दोषों का समाप्त कर देते है। यह आश्रित पाप-ताप प्रणाशकत्व की योग्यता केवल परमात्मा

में ही है। इस तरह परमात्मा स्वभावतः सभी दोषों के परम शत्रु सिद्ध होते हैं। इसीलिए परमात्मा को वेदान्त वाक्य अखिलहेयप्रत्यनीक रूप से बतलाते हैं।

२- ईश्वर कल्याणैकतान हैं। अर्थात् वे इतने विशाल तत्त्व हैं कि उनमें सभी कल्याणगुण सदा मिलकर रहा करते हैं। ईश्वर तत्त्व ही सभी कल्याण गुणों से सम्पन्न हैं। इस तरह की योग्यता किसी भी जीव में नहीं है। ऐसा कोई भी कल्याण-गुण नहीं हैं जो परमात्मा में नहीं हो। श्रीभगवान् केवल अपने लिए ही नहीं वे दूसरों के लिए भी अत्यन्त अनुकूल प्रतीत होने वाले तत्त्व हैं। इसीलिए परमात्मा शास्त्रों में कल्याण स्वरूप एवं आनन्द स्वरूप बतलाये गये दूसरे में यह विशेषता नहीं है। परमात्मा को शास्त्रों में इसलिए भी कल्याणैकतान बतलाया गया है कि वे अपने आश्रित जीवों का कल्याण करने में सदा दत्त-चित्त रहा करते हैं।

३- परमात्मा को ईश्वर शब्द से इसलिए अभिहित किया जाता है कि वे चेतनाचेतन सभी तत्त्वों में व्यापक बनकर विराजमान रहते है। और सभी अवस्थाओं में रहने वाले चेतनाचेतन पदार्थ ईश्वर के व्याप्य बनकर रहा करते हैं। इसी अर्थ को ईश्वर शब्द अभिव्यक्त करता है। क्योंकि व्याकरणानुशासन के अनुसार अशु व्याप्तो धातु से 'वरट्य' इस औणादिक सूत्र के वरट् प्रत्यय होकर 'चकारात्' 'अर्थ' का ईत्व होकर ईश्वर शब्द सिद्ध होता है।

४– व्याकरणानुशासन के अनुसार ईश्वर शब्द की सिद्धि 'ईश नियमने' धातु से भी औणादिक पर प्रत्यय होकर होती है। अतएव ईश्वर शब्द का अर्थ सम्पूर्ण चेतनाचेतनों का नियामक भीं होता है। परमात्मा की चेतनाचेतनों की नियामकता की सीद्धि 'क्षरं प्रधानममृताक्षरंहरः क्षरात्मा ना वीशते देव एकः' इस श्वेताश्वतर श्रुति के द्वारा भी होती है। इस श्रुति का अभिप्राय है कि सतत् विकारशील प्रकृति का स्वरूपतः निर्विकार रहने वाला जीव अपने भोग के लिए हरण करता है। और दिव्य गुणों से मुक्त रहने वाला परमात्मा इन दोनों (प्रकृति और जीवात्मा) का नियमन करता है।

५– ईश्वर सभी चेतनाचेतन पदार्थों के धारक एवं आधार हैं और सभीं चेतनाचेतन पदार्थ परमात्मा के आधेय हैं।

६– ईश्वर चेतनाचेतन पदार्थों के द्वारा सभी प्रकार के उत्कर्ष प्राप्त करते हैं, अतएव वे शेषी कहलाते हैं। वे चेतनाचेतन पदार्थ किसी न किसी प्रकार से परमात्मा की सेवा में आते हैं; अतएव ये शेष कहलाते हैं। ये सभी विशेषताएं परमात्मा में ही हैं, किसी दूसरे में नहीं, अतएव वे त्रिविध चेतनाचेतनों से विलक्षण हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता के १५ वें अध्याय में श्रीभगवान् ने तत्त्वत्रय को वेदों का प्रधान प्रतिपाद्य विषय घोषित करते हुए कहा है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

अर्थात्—लोक (प्रमाण ग्रन्थ) में दो प्रकार के पुरुष प्रसिद्ध हैं, क्षर एवं अक्षर सभी बद्ध जीव क्षर कहलाते हैं क्योंकि ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त सभी जीवों का क्षण-क्षण नवीन परिणाम होता रहता है। ये प्रकृति आदि अचेतन पदार्थों से संश्लिष्ट होने के कारण सुख-दुःख आदि विकारों से विकृत होते रहते हैं। शरीर से संश्लिष्ट होकर जन्म मरणादि विकारों से विकृत होते रहते हैं। अतएव ये क्षर कहलाते हैं। जब जीव का अचेतनों से सम्बन्ध छूट जाता है, उस समय आविर्भूत गुणाष्टक होकर जीव मुक्त कहलाते हैं। अतएव वे दुःखादि तथा जनम-मरण आदि विकारों से मुक्त हो जाते हैं। इन दोनों प्रकार के जीवों से अत्यन्त विलक्षण चेतन परमात्मा है। वह तीनों में प्रवेश करके उसका पालन करता है। यहाँ 'लोक्यते इति लोकः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमाणगम्य पदार्थ ही लोकशब्दाभिधेय हैं। ऐसे पदार्थ तीन हैं—अचेतनपदार्थ, अचेतनसंश्लिष्टचेतनपदार्थ और अचेतन सम्बन्ध रहित चेतन पदार्थ। इन तीनों प्रकार के पदार्थों में प्रवेश करके परमात्मा इनको धारण करता है। इस तरह परमात्मा चेतनाचेतन

पदार्थों में व्यापक, धारक तथा अव्यय यानी विकार रहित है। परमात्मा इन दोनों प्रकार के जीवों से बढ़कर है, अतएव ही उसे लोक तथा वेद में पुरुषोत्तम शब्द के द्वारा अभिहित किया जाता है।

इस तरह गीता का भी प्रतिपाद्य तत्व तत्त्वत्रय ही है। इसी तरह उपनिषद् भी मुक्तकण्ठ से तत्त्वत्रय का प्रतिपादन करती हैं। जैसे 'प्रधान क्षेत्रज्ञपति गुंणेश:' (श्वे० ६।१६) अर्थात् ईश्वर प्रकृति तथा जीवों का स्वामी है तथा ज्ञानादि छहों गुणों से परिपूर्ण है। 'पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्' (तं० ना० उ० ९२) अर्थात् नारायण विश्व के स्वामी हैं और अपने लिए स्वयं ईश्वर हैं।

इसी तरह शास्त्रों में तत्त्वत्रय का प्रतिपादन किया गया। और यह बतालाया गया है कि ये तीनों तत्त्व आपस में भिन्न हैं। जीव भी आपस में एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। इन तीनों तत्त्वों के स्वरूप याथात्म्य का ज्ञान ही परम पुरुषार्थं मोक्ष का प्रयोजक है। यह—'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्चमत्वा, जुष्टस्त तस्तेनामृतत्त्वमेति' इत्यादि वाक्य बतलाते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्दशाध्याय में भी भगवान् स्वयं कहते हैं—

'इदंज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता:।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ १२॥

अर्थात्—इस (वक्ष्यमाण) ज्ञान को अपनाकर साम्य

को प्राप्त हो चुके हैं। अतएव वे सृष्टि काल में न तो उत्पन्न होते हैं और न प्रलय काल में संहार्य होते हैं। इस श्लोक में 'मम साधर्म्यमागताः' वाक्यांश के द्वारा भगवान् ने यही बतलाया है कि मोक्षावस्था में जीव ब्रह्म साम्य को प्राप्त करते हैं। समता भिन्न पदार्थों में ही होती है, अतएव भगवान् भी मुक्त कण्ठ से जीव और ब्रह्म में भेद का प्रतिपादन करते हैं। ऐक्य का नहीं। प्रस्तुत बहुवचनान्त प्रयोग से मोक्षावस्था में भी जीवों का परस्पर में भेद सिद्ध होता है। 'सर्गेऽपि नोपजायन्ते' इत्यादि वाक्याँश का फलितार्थ है कि मुक्त जीवों का बद्ध जीवों से भेद होता है।

मोक्षावस्था में जीव और ब्रह्म के बीच होने वाली समता का प्रतिपादन करती हुई एक श्रुति कहती है—'तदा विद्वान् पुण्य पापे विधूय परमं साम्यमुपैति' (मु० ३ । ३) अर्थात् ब्रह्म ज्ञानी उपासक प्राचीन कर्मार्जित पुण्य एवं पापों को नष्ट कर परंब्रह्म परमात्मा की परमसमता को प्राप्त करते हैं। इससे भी जीव और ब्रह्म में मोक्षावस्था में होने वाले भेद की सिद्धि होती है।

ब्रह्म सूत्रकार बादरायण ने 'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च' (१। ३ । २) सूत्र से बतलाया है कि उपनिषदों के अनुसार मुक्त जीव का प्राप्य ब्रह्म है। इस तरह उस ब्रह्म का प्रापक जीव से भेद सिद्ध होता है। 'संपद्याविर्भावः स्वेनशब्दात्' सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने यह बतलाया है कि साधक अर्चिरादिमार्ग से ब्रह्म के पास पहुँचता है। उस समय उसका वह स्वरूप आविर्भूत हो जाता है।

इस प्रकार श्रीमद् भगवद्गीता, उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्रों

के द्वारा सिद्ध होता है कि सभी तरह से अविद्या तथा उपाधियों से छुटे हुए तथा मोक्ष प्राप्त जीवों तथा ब्रह्म में भेद होता है। और वह भेद स्वाभाविक ही है, आविद्यिक अथवा औपाधिक नहीं।

उस ब्रह्म और जगत् का जहां कहीं भी अभेद बतलाया गया है, वहां जगत् और परमात्मा के शरीरात्मभाव को ही लेकर जिस तरह शरीर से आत्मा के भेद रहने पर भी दोनों में अपृथक् सिद्ध सम्बन्धेन अभेद प्रतीत होता है। जिस तरह आत्मा के बिना शरीर नहीं रह सकता हैं, उसी प्रकार यदि परमात्मा चित् एवं अचित् की आत्मा रूप से उनके भीतर नहीं अनुप्रविष्ट रहें तो यह जगत् भी नष्ट हो जायेगा। अतएव इस तरह परमात्मा के जड़ चेतन (प्रकृति एवं पुरुष) शरीर सिद्ध होते हैं। यही घटक श्रुतियों का अभिप्रायं है।

वेदों के सँदिग्ध स्थलों का ही निर्णय करने के लिए मीमाँसा शास्त्र प्रवृत्ति है। मीमाँसा के तीन काँड है—(१) कर्म काण्ड, (२) देवता काण्ड और (३) ब्रह्म काण्ड। देवता काण्ड को संकर्ष काण्ड भी कहते हैं। कर्म काण्ड के कर्ता महर्षि जैमिनि हैं। ब्रह्म काण्ड के प्रणेता महर्षि बादरायण हैं। इनका दूसरा नाम व्यास भी है। देवता काँड के रचयिता के रूप में कहीं कहीं महर्षि जैमिनि को कहा गया है और कहीं कहीं पर महर्षि काशकृत्स्न को। तीनों काण्ड मिलकर पूर्ण मीमांसा शास्त्र है। यह शास्त्र वेदों का उपाङ्ग है। सम्पूर्ण मीमाँसा शास्त्र में बीस अध्याय

हैं। और ब्रह्मकाण्ड में चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय पादों में विभक्त हैं तथा प्रत्येक पाद अधिकरणों में। अधिकरण के पाञ्च अङ्ग होते हैं। विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और प्रयोजन। किसी विषय को लेकर होने वाले विचार में मीमाँसाशास्त्र के काण्ड, अध्याय, पाद और पूर्वाधिकरण से संगति रहती है। वेद के वे वाक्य मीमांसाशास्त्र के विषय माने जाते हैं, जिनके अर्थ के विषय में संशय होता है। विभिन्न हेतुओं के कारण होने वाले संशय के कारण पूर्वपक्षी अपना पूर्व पक्ष उपस्थित करता है। सिद्धान्ती उस पूर्वपक्ष का निराकरण करके अपने सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। इस प्रकार का प्रत्येक अधिकरण में विचार होता है। इस विचार का पूर्वपक्ष के अनुसार एक प्रयोजन और सिद्धान्त के अनुसार दूसरा प्रयोजन होता है। अतएव प्रत्येक विचार सफल माने जाते हैं। जिस प्रकार न्यायालय में वादी तथा प्रतिवादी की बातों को सुनकर न्यायालय में निर्णय दिया जाता है उसी प्रकार निष्पक्ष विचार करके निर्णय देने के कारण इस शास्त्र का वैशिष्ट्य सर्वमान्य है।

त्रैवर्णिक उपनीत बालक आचार्य से वेदों का अध्ययन करते समय मातृभाषा संस्कृत होने के कारण तथा अङ्गशास्त्रों के अध्ययन के कारण भी वेदों का सामान्यतः अर्थ समझने लगता है। किन्तु जब वह वेद के वाक्यों का अर्थ करता है तो उसे अनेकों वाक्यों का अर्थ करते समय संशय होता है।

उन वाक्यों के अर्थों का निर्णय करने के लिए वह विचा-

रात्मक मीमाँसा शास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्त होता है। वेदों के पूर्व भाग में वर्णित कर्मों एवं देवताओं से सम्बन्धित संदेहों को दूर करने के लिए वह पूर्व मीमाँसा का अध्ययन करता है। पूर्व मीमांसा का अध्ययन करके वह इस निर्णय पर पहुंचता है कि केवल कर्मों के फल नश्वर होता है तथा तद्वारहित देवता भी नश्वर हैं। किन्तु उसको विभिन्न उपनिषद् वाक्यों के पढ़ने से यह संशय बना रहता है कि ब्रह्मोपासना से शायद अनन्त एवं अक्षय्य फल की प्राप्ति होती हैं। इस संशय से ही प्रेरित होकर वह ब्रह्म विचार में प्रवृत्त होता है। वह विचार ब्रह्म सूत्र कहलाता है।

इस ब्रह्म मीमांसा में कुल ५४५ सूत्र हैं और १५६ अधिकरण हैं। पहले अध्याय के प्रथम पाद में ११ अधिकरण हैं द्वितीय पाद में ६ अधिकरण हैं। तृतीय पाद में १० अधिकरण हैं और चतुर्थ पाद में ८ अधिकरण हैं। दूसरे अध्याय के प्रथम पाद में १० अधिकरण द्वितीय पाद में ८ अधिकरण, तृतीय पाद में ७ अधिकरण और चतुर्थ पाद में ८ अधिकरण हैं। इस तरह द्वितीयाध्याय में ३३अधिकरण हैं। तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में ६ अधिकरण, द्वितीय पाद में ८ अधिकरण, तृतीय पाद में २६ अधिकरण और चतुर्थ पाद में १५ अधिकरण हैं। इस प्रकार तृतीय अध्याय में ५५ अधिकरण हैं। चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद में १ अधिकरण, द्वितीय पाद में ११ अधिकरण, तृतीय पाद में ५ अधिकरण और चतुर्थ पाद में ६ अधिकरण हैं। इस तरह चतुर्थ में ३३ अधिकरण हैं।

ब्रह्म मीमांसा का प्रधान प्रतिपाद्य अर्थ ब्रह्म ही है। अतएव 'ब्रह्माधिकृत्य प्रवृत्तं सूत्रम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ये ब्रह्म सूत्र के नाम से अभिहित किये जाते हैं। ब्रह्म मीमाँसा के चार अध्यायों में पहला अध्याय समन्वयाध्याय के नाम से अभिहित किया जाता है। दूसरा अध्याय अविरोधाध्याय के नाम से अभिहित किया जाता हैं। तोसरे अध्याय का पारिभाषिक नाम साधनाध्याय हैं। ब्रह्म मीमांसा के चौथे अध्याय को फलाध्याय कहा जाता है।

प्रथमाध्याय में यह वर्णित है, कि जगत्कारणतत्व का वर्णन करने वाले सभो उपनिषद् वाक्य ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं। सब उपनिषद्वाक्यों का ब्रह्म में समन्वय है। अतएव प्रथमाध्याय समन्वयाध्याय कहलाता है। द्वितोयाध्याय में अर्थ वर्णित है कि प्रथमाध्याय वर्णित ब्रह्मकारणत्व अविचाल्य है, कोई भी प्रमाण और तर्क उसका विरोध नहीं कर सकता। अतएव द्वितीयाध्याय का अविरोधाध्याय ऐसा नाम पड़ा। तृतीयाध्याय में मोक्षसाधन वर्णित है। अतएव उसका नाम साधनाध्याय कहा जाता है। चतुर्थाध्याय में ब्रह्मप्राप्तिरूप मोक्षफल का वर्णन है। अतएव चतुर्थाध्याय का नाम फलाध्याय रक्खा गया है साधन एवं फल का वर्णन करने वाले इन दोनों अध्यायों में सिद्धोपाय एवं सिद्ध प्राप्य के रूप ब्रह्म वर्णित है। सिद्धोपाय होने से ब्रह्मसाधन कोटि में आ जाता है तथा सिद्ध प्राप्य होने से ब्रह्म फलकोटि में आ जाता है। साधन और फल दो प्रकार के हैं सिद्ध और साध्य। उनमें ब्रह्म फलप्रद होने से साधन है। वह सिद्ध है,

प्रयत्नसाध्य नहीं है, अतएव वह सिद्धोपाय कहा जाता है। ब्रह्म को प्रसन्न करने वाले भक्ति और प्रपत्ति इत्यादि साधन प्रयत्न साध्य होने के कारण साध्योपाय कहलाते हैं। साधन के द्वारा प्राप्य होने के कारण ब्रह्म सिद्धप्राप्य अर्थात् बना बनाया हुआ प्राप्य माना जाता है। ब्रह्मानुभव और संसार निवृत्ति इत्यादि फल साधन साध्य होने से साध्य फल है साधनाध्याय एवं फलाध्याय में सिद्ध साध्य साधनफलों का वर्णन है। सिद्धोपाय एवं सिद्धप्राप्य के रूप में इन अध्यायों में ब्रह्म का वर्णन होने के कारण इन दोनों अध्यायों की ब्रह्म मीमांसा में संगति है।

ये चार अध्याय दो भाग में विभक्त होते हैं। प्रथम और द्वितीय अध्याय मिलकर एक भाग है और तृतीया और चतुर्थ अध्याय मिलकर दूसरा भाग है। प्रथम भाग में सिद्धवस्तु ब्रह्म का प्रतिपादन है। द्वितीय भाग में साध्यवस्तु का प्रतिपादन है क्योंकि तृतीय अध्याय में प्रयत्नसाध्य होने वाले साधन तथा चतुर्थाध्याय में उससे साध्य होने वाले मोक्षरूपी फल प्रतिपादित है। अथवा प्रथम भाग में विषय बनने वाले पदार्थ का प्रतिपादन है क्योंकि ब्रह्म उपासना और अनुभव का विषय है। द्वितीय भाग में विषयी पदार्थ प्रतिपादित हुआ है क्योंकि तृतीयाध्याय प्रतिपाद्य उपासना रूपी साधन तथा चतुर्थाध्याय प्रतिपाद्य अनुभव रूपी फल ब्रह्मरूपी विषय को लेकर होते हैं अतएव वे विषयी हैं, उनका वर्णन द्वितीय भाग में हैं। इस प्रकार अनुगत अर्थ होने से चार अध्याय दो भागों में विभिक्त होते हैं।

उनमें सिद्ध विषय प्रतिपादक प्रथम भाग के अन्तर्गत प्रथमाध्याय में यह सिद्ध किया गया है कि जगत्कारण वस्तु का प्रतिपादन करने वाले सभी उपनिषद्वचनों का ब्रह्म में समन्वय हो जाता है। अतएव प्रथमाध्याय समन्वयाध्याय कहलाता है। समन्वयाध्याय में चार पाद हैं। ये दो भागों में विभक्त होते हैं। प्रथमाध्याय प्रथम भाग हैं। आगे के तीन अध्याय दूसरा भाग है। इनमें अनुगत विभिन्न अर्थ प्रतिपाद्य होने के कारण इस प्रकार विभाग किया जाता है। प्रथम पाद अयोगव्यवच्छेद को सिद्ध करने के लिए प्रवृत है तथा आगे के तीन अध्याय अन्ययोगव्यवच्छेद को सिद्ध करने के लिये प्रवृत्त हैं। भाव यह है कि प्रथमपाद में पूर्वपक्षी इस अभिप्राय से पूर्वपक्ष को उपस्थित करते हैं कि सभी वेदान्त अर्थात् उपनिषद्वाक्य जगत्कारण के रूप में प्रकृति और पुरुष अर्थात् जीव का ही वर्णन करते हैं, कोई भी उपनिषद्वचन ब्रह्म को जगत्कारण नहीं बतलाता है ब्रह्म जगत्कारण हो ही नहीं सकता। इस प्रकार प्रथमपाद में पूर्वपक्षी ब्रह्म में जगत्कारणत्व के अयोग अर्थात् अभाव को सिद्ध करते हैं। सिद्धान्ती उन पूर्वपक्षों का निराकरण करके यह सिद्ध करते है कि कम से कम कई उपनिषद्वचन ब्रह्म को जगत्कारण बतलाते हैं। यह नहीं माना जा सकता है कि ब्रह्म जगत्कारण हो ही नहीं सकता। कोई उपनिषद्वाक्यों के आधार पर ब्रह्म को जगत्कारण मानना ही होगा। इस प्रकार सिद्धान्ती प्रथम पाद में ब्रह्म में जगत्कारणत्व को सिद्ध करते हुये पूर्वपक्षी के इस कथन

कि ब्रह्म जगत्कारण है ी न ीं का खण्डन करते हैं। प्रथमपाद में सिद्धान्ती ब्रह्म को जगत्कारण सिद्ध करने के लिए चेष्टा करते हैं पूर्वपक्ष वर्णित प्रकृति पुरुष कारणत्ववाद का खण्डन करने के लिये विशेप प्रयास नहीं करते हैं। यह पद्धति उचित ही है पहले ब्रह्म को जगत्कारण सिद्ध किया जाय, बाद में भले ही दूसरों के जगत्कारणत्व का खण्डन किया जाय। इस प्रकार ब्रह्म में जगत-कारणत्व को सिद्ध करने में तात्पर्य होने के कारण प्रथमपाद अयो-गव्यवच्छेद परक माना जाता है। इस पाद में यह सिद्ध किया जाता है कि कई उपनिपद्वाक्य उस ब्रह्म को—जो सर्वज्ञ सत्य-संकल्प वाले निर्दोप एवं समस्त कल्याण गुणों के आकर हैं—जगत्कारण बतलाते हैं। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थपाद अन्ययोग-व्यवच्छेदपरक माने जाते हैं। इन पादों में पूर्वपक्षी इस आशय से पूर्वपक्ष को उपस्थित करते हैं कि भले ही अन्य वाक्य ब्रह्म को जगत्कारण बतलावें, किन्तु ये वचन—जिनका उद्धरण हम करते हैं—ब्रह्म को जगत्कारण नहीं बतलाते, किन्तु ब्रह्म व्यतिरिक्त प्रकृति और पुरुपको ही जगत्कारण बतलाते हैं। इस प्रकार पूर्वपक्षी इन तीन पादों में कई उपनिषद्वचनों से प्रकृति कारणत्ववाद एवं पुरुष कारणत्ववाद को सिद्ध करते हुये यही आशा रखते हैं कि इस प्रकार प्रत्येक उपनिपद्वाक्य को ब्रह्म व्यतिरिक्त प्रकृति और पुरुष के कारणत्व में तात्पर्य को सिद्ध करके हम यह सिद्ध करदें कि सभी उपनिपद्वचन ब्रह्म व्यतिरिक्त पदार्थ को ही जगत्कारण बत-लाते हैं, ब्रह्म को नहीं। इन तीन पादों में सिद्धान्ती पूर्वपक्षी के

द्वारा उदाहृत उपनिषद्वचनों से ब्रह्म करणत्ववाद को सिद्ध करते हुये यह बतलाते हैं कि सभी उपनिषद् वचन ब्रह्म को ही जगत्कारण बतलाते हैं, ब्रह्मव्यतिरिक्त प्रकृति और पुरुष को जगत्कारण नहीं बतलाते हैं। इस कारण से तीनों पाद अन्ययोगव्यवच्छेद परक अर्थात् ब्रह्मव्यतिरिक्त प्रकृति और पुरुष के जगत्कारणत्व का खण्डन करने में तात्पर्य रखने वाले माने जाते हैं। उनमें द्वितीय पाद में उन उपनिषद्वाक्यों—जिनमें जीव और प्रकृति को प्रतिपाद्य सिद्ध करने वाले लिङ्ग अर्थात् सूचक धर्म अस्पष्ट हैं—को लेकर विचार किया गया है। तृतीय पाद में उपनिषद्वाक्यों को लेकर विचार किया गया है जिनमें जीव आदि को प्रतिपाद्य सिद्ध करने वाले लिङ्ग अर्थात् चिह्न स्पष्ट हैं। चतुर्थ पाद में उन वचनों को लेकर विचार किया गया है जिनमें जीव आदि को प्रतिपाद्य सिद्ध करने वाले लिङ्ग स्पष्टतर हैं, जो प्रधान अर्थात् प्रकृति आदि का प्रतिपादन करने वाले प्रतीत होते हैं। इनमें द्वितीय पाद में पूर्वपक्षी उन वाक्यों को लेकर पूर्वपक्ष करते हैं जो उनके पक्ष को सिद्ध करने में असमर्थ हैं, अतएव दुर्बल हैं। तृतीय पाद में पूर्वपक्षी उन वाक्यों को उपस्थित करते हैं जो उनके पक्ष को सिद्ध करने में समर्थ हैं। चतुर्थ पाद में पूर्वपक्षी उन वाक्यों को उपस्थित करते हैं जो उनके पक्ष को सिद्ध करने में परिपूर्ण सामर्थ्य रखते हैं। जिस प्रकार युद्ध में शत्रु आरम्भ में दुर्बल सेना को भेजता है, उसके हारने पर प्रबल सेना को रणांगण में भेजता है, यदि वह भी हार जाये तो बलवत्तर मूलबल को भेजता

है, उसी प्रकार इन तीनों पादों में क्रम से दुर्बल प्रबल और अति प्रबल उपनिषद्वचनों को लेकर पूर्वपक्षी ब्रह्मव्यतिरिक्त को जगत्कारण सिद्ध करने के लिये प्रयत्न करते हैं। सिद्धान्ती पूर्वपक्ष का निराकरण करके उन वचनों से ब्रह्म कारणत्ववाद को सिद्ध करते हैं। इस प्रकार प्रथमाध्याय में प्रथम पाद अयोगव्यवच्छेद-परक तथा आगे के तीन पाद अन्ययोगयवच्छेदपरक दो भागों में बंट जाते हैं। इस प्रकार प्रथमाध्याय में अनेक उपनिषद्वचनों का उद्धरण देकर यह सिद्ध किया गया है कि सभी वेदान्तवाक्य उस परब्रह्म को ही जगत्कारण बतलाते हैं जो सर्वज्ञत्व सत्यसंकल्पत्व इत्यादि कल्याणगुणों से युक्त है। सभीउपनिषदों का ब्रह्मकारणत्ववाद में अच्छी तरह से समन्वय सम्पन्न हो जाता है।

द्वितीयाध्याय अविरोधाध्याय है जिसमें यह सिद्ध किया जाता है कि प्रथमाध्याय वर्णित ब्रह्म कारणत्ववाद अविचाल्य है, कोई भी प्रमाण अथवा तर्क उसका विरोध करने में सामर्थ्य नहीं रखता है। इस अध्याय में चार पाद हैं। इनमें प्रथम और द्वितीय पाद मिलकर दूसरा भाग है। इनमें प्रथम भाग में कारण को लेकर होने वाले विरोध का समाधान किया जाताहै तथा द्वितीय भागमें कार्य को लेकर होने वाले विरोध का समाधानकियाजाता है। अथवा प्रथम भाग में उस विरोध का समाधान किया जाता है जो वेद के बाहर रहने वाले अर्थात् प्रमाण नमान ने वाले वादियों द्वारा उपस्थित किया जाता है। द्वितीयभाग में उस विरोध का समाधान किया जाता है जो वेद को प्रमाण माननेवाले वादियों द्वारा वेद

वाक्यों के आधार पर उपस्थित किया जाता है। इस प्रकार द्वितीयाध्याय में उठे हुए सब तरह के विरोध को शान्त करके यह सिद्ध किया जाता है कि ब्रह्मकारणवाद अविचाल्य एवं सुदृढ़ है। इसमें प्रथम पाद में उन दोषों का समाधान किया गया है जो सांख्यादि स्मृतियों के विरोध के कारण तथा तर्क विरोध के कारण उपस्थित किये गये हैं। द्वितीयपाद में सांख्य इत्यादि वेद-वाह्य पक्षों का खण्डन करके यह स्थिर किया गया है कि ब्रह्म-कारणत्ववाद ही आदरणीय है। तृतीय और चतुर्थ पाद में यह सिद्ध करने के लिये—कि वेदान्तवाक्यों का परस्पर है ही नहीं—यह बतलाया जाता है कि आकाश आदि पदार्थ किस प्रकार ब्रह्म का कार्य बनते हैं। उनमें तृतीय पाद में यह अर्थ वर्णित होता है कि चेतनाचेतन प्रपञ्च ब्रह्म का कार्य है, उसमें अचेतन पदार्थ इस प्रकार कार्य बनता है कि उसका स्वरूप पूर्वावस्था को छोड़-कर नूतनावस्था को प्राप्त करता है इस प्रकार उसमें स्वरूपान्य-थाभाव अर्थात् स्वरूप में परिवर्तन हो जाता है। चेतन पदार्थ-कार्य बनते समय स्वरूपान्यथाभाव को प्राप्त नहीं होता है उसका स्वरूप सदा निर्विकार ही रहता है, किन्तु वह धर्मभूत ज्ञानरूपी अपने स्वभाव में अन्यथाभाव को प्राप्त होता है क्योंकि सृष्टि के समय में जीवों के धर्मभूत ज्ञान में संकोच और विकास इत्यादि अवस्थायें हुआ करती हैं। इस प्रकार सृष्टि के समय अचेतन स्वरूपतः विकार को प्राप्त होता है चेतन स्वरूप से विकृत न होने पर भी धर्मभूत ज्ञान के द्वारा विकारों को प्राप्त होता है। चतुर्थ

पाद में यह अर्थ वर्णित होता है कि जीवों के उपकरण इन्द्रिय आदि की उत्पत्ति किस प्रकार होती है। इस प्रकार प्रथम और द्वितीय अध्याय मिलकर इस अर्थ का प्रतिपादन करते हैं कि मुमुक्षुओं को उपास्य बनाने वाला परब्रह्म सम्पूर्ण जगत् का एकमात्र कारण है उसमें दोष का गन्ध तक नहीं है तथा उत्कर्ष की चरम सीमा में पहुँचे असंख्य कल्याणगुणगणों से वह परिपूर्ण है। इस प्रकार वह ब्रह्म—जो सिद्ध पदार्थ है तथा अग्रिम अध्यायों में वर्णित साधन एवं फल का विषय है—प्रथम दोनों अध्यायों में वर्णित है।

आगे के दोनों अध्यायों में प्रयत्नसाध्य ब्रह्मोपासनरूपी साधन एवं उससे प्राप्त होने वाले मोक्षरूपी फल का स्वरूप बतलाया जाता है। तृतीयाध्याय में प्रथम एवं द्वितीय पाद मिलकर एक भाग बनते हैं तथा तृतीय एवं चतुर्थपाद मिलकर दूसरा भाग बनते हैं। प्रथम भाग में उस अधिकार का वर्णन है जो सांग साधन का वर्णन है जो साधक के लिये अधिकर्तव्य है। इस प्रकार अधिकार एवं अधिकर्तव्य का प्रतिपादक होने से तृतीयाध्याय में दो भाग होते हैं। जो साधक संसार से विरक्त एवं परब्रह्म में अनुरक्त है, वही ब्रह्मोपासन रूपी साधन का अधिकारी बन सकता है। संसार वैराग्य एवं परब्रह्मानुराग ही ब्रह्मोपासन का अधिकार है। साधक को ब्रह्मोपासन में इच्छा हो, एतदर्थ संसार वैराग्य को उत्पन्न करने के लिये तृतीयाध्याय में प्रथम पाद में उन दोषों का वर्णन है जो संसार दशा में जीव को प्राप्त होते

हैं। द्वितीय पाद में ब्रह्म के कल्याण गुणों का वर्णन है। इन गुणों को हृदयङ्गम करने पर साधक को ब्रह्म में अनुराग होता है, तथा वह स्वेच्छा से ब्रह्मोपासन में प्रवृत्त होता है। ब्रह्म की विशेषता यह है कि वह सब तरह के दोषों से दूर है एवं समस्त कल्याण गुणों का आकर है। निर्दोषत्व एवं कल्याणगुणाकरत्व ये दोनों ब्रह्म का असाधारण चिन्ह है अतएव ये उभयलिङ्ग कहलाते हैं। जिस प्रकार छत्र और चामर राजा का चिन्ह है उसी प्रकार ये दोनों परब्रह्म का चिन्ह हैं। इनका वर्णन द्वितीय पाद में हैं। तृतीय और चतुर्थ पाद में अधिकर्तव्य साँग साधन का वर्णन है। तृतीय पाद में इन अर्थों का विस्तार से वर्णन है कि किन उपनिषदों में वर्णित किन ब्रह्म विद्याओं में ऐक्य मानना चाहिये तथा किन ब्रह्मविद्याओं में भेद मानना चाहिये। ऐक्य सिद्ध होने पर एक उपनिषद् में एक विद्या के प्रसंग में वर्णित गुण दूसरी उपनिषद् की उस विद्या में भी लिये जायेंगे, भेद सिद्ध होने पर नहीं लिये जायेंगे। यही गुणों का उपसंहार और अनुपसंहार कहलाता है। इनको सिद्ध करने के लिये ही ब्रह्मविद्याओं में ऐक्य और भेद तृतीय पाद में बतलाये गये हैं। इस प्रकार तृतीय पाद में साधन का वर्णन है। चतुर्थ पाद में यह अर्थ वर्णित है कि वर्णाश्रम धर्म इत्यादि ब्रह्मविद्या का अंग है ब्रह्मविद्या के अंगों का प्रतिपादक होने से ही चतुर्थपाद अंगपाद कहलाता है। इस प्रकार तृतीयाध्याय में अधिकार एवं अंगों से समेत साधन का वर्णन है। अतएव यह अध्याय साधनाध्याय कहलाता है।

चतुर्थाध्याय में उस फल का वर्णन है जो ब्रह्मोपासनरूपी साधन से प्राप्त होता है। चतुर्थाध्याय भी दो भागों में विभक्त है। प्रथम पाद एवं द्वितीय पाद मिलकर प्रथम भाग माना जाता है एवं तृतीय पाद और चतुर्थ पाद मिलकर द्वितीय भाग माना जाता है। प्रथम भाग में उस फल का वर्णन है जो साधक को स्थूल देह से निकलने के पूर्व प्राप्त होता है। द्वितीय भाग में उस फल का वर्णन है जो साधक स्थूल देह से निकलने के बाद प्राप्त होता है। उसमें ब्रह्मोपासन से प्राप्त होने वाले फल को बतलाने के लिये सूत्रकार प्रथम पाद में ब्रह्मोपासन का स्वरूप उपासनानुष्ठान का प्रकार और ब्रह्मविद्या का महात्म्य इन अर्थों का प्रतिपादन करते हैं। द्वितीय पाद में इस अर्थ का वर्णन है कि परब्रह्म का उपासन करने वाले साधक परब्रह्म प्राप्त्यर्थ अर्चिरादिगति में जाने के पूर्व स्थूल शरीर से किस प्रकार निकलते हैं। स्थूल शरीर से निकलना अर्चिरादि गति में जाने का प्रारम्भ माना जाता है। तृतीय पाद में अर्चिरादि गति का स्वरूप एवं अर्चिरादि गति से ही ब्रह्म की प्राप्ति ये अर्थ वर्णित हैं। चतुर्थपाद में इस अर्थ पर विचार किया गया है कि मुक्ति को प्राप्त होने वाला ब्रह्मानुभव किस प्रकार का है इस प्रकार चतुर्थाध्याय में फल वर्णित है अतएव यह अध्याय फलाध्याय कहलाता है।

इस प्रकार इस शारीरक शास्त्र ब्रह्म मीमांसा में तत्त्व, हित और पुरुषार्थ का वर्णन किया गया है।

—श्रीशिवप्रसाद द्विवेदी

—※—

❁ श्रीमते रामानुजाय नमः ❁

॥ श्रीवादिभीकर महागुरवे नमः ॥

—: हिन्दी श्रीभाष्य :—

-(त्रयोदश भाग)-

अथ वाक्यान्वयाधिकरणम् ॥ ६ ॥

वाक्यान्वयात् ।१।४।१६।।

मूल-अत्रापि कापिलतन्त्रसिद्धपुरुषतत्त्वावेदनपरं वाक्यं कर्विचद्दृश्यत इति तदतिरिक्त ईश्वरो नाम न कश्चित्संभवतीत्याशङ्क्य निराकरोति। बृहदारण्यके मैत्रेयीब्राह्मणे श्रूयते ❁न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति इत्यारभ्य ❁न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यश्श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्❁इति। तत्र संशयः-किमस्मिन्वाक्ये द्रष्टव्यतयोपदिश्यमानस्तन्त्रसिद्धः पुरुष एव ? अथवा सर्वज्ञस्सत्यसङ्कल्पस्सर्वेश्वरः?

इति । किं युक्तम् ? पुरुष इति । कुतः ? आदिमध्यावसानेषु पुरुषस्यैव प्रतीतेः । उपक्रमे तावत्पतिजायापुत्रवित्तपश्वादिप्रियत्वयोगाज्जीवात्मैव प्रतीयते; मध्येऽपि *विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यस्समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति इत्युत्पत्तिविनाशयोगात्स एवावगम्यते, तथाऽन्ते च *विज्ञातारमरे केन विजानीयात् इति स एव ज्ञाता क्षेत्रज्ञ एव प्रतीयते, नेश्वरः । अतस्तन्त्रसिद्धपुरुषप्रतिपादनपरमिदं वाक्यमिति निश्चीयते ।

अनु०:—चूंकि सम्पूर्ण वाक्य परमात्मा में ही समन्वय रखते हैं अतएव द्रष्टव्य रूप से कहा गया आत्मा परमात्मा ही है । क्योंकि मैत्रेयी ब्राह्मण के सभी वाक्यों का अन्वय परमात्मा में ही होता है । अतः मैत्रेयीब्राह्मण में वर्णित पुरुष सांख्यशास्त्रोक्त पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष न होकर परमात्मा ही है । यह सूत्र का अर्थ हुआ ।

बृहदारण्यकोपनिषद् के छठे अध्याय के मैत्रेयी ब्राह्मण में साँख्य शास्त्रोक्त पुरुषतत्व को बतलाने वाला एक वाक्य दिखलायी पड़ता है । अतएव उसको छोड़कर ईश्वर नाम का कोई तत्त्व नहीं, इस प्रकार की शंका करके उसका खण्डन इस अधिकरण में किया जा रहा है । बृहदारण्य कोपनिषद् के मैत्रेयी ब्राह्मण

को श्रुति कहती है—'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति।' अर्थात् अरे मैत्रेयि पति की इष्ट की पूर्ति के लिए पति प्रिय नहीं होता है, अपितु वह आत्मा को इष्ट की पूर्ति के लिए प्रिय होता है। इस श्रुति से प्रारम्भ करके निम्न वाक्य पर्यन्त यह प्रकरण है। वह वाक्य है—'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वंप्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्।' अर्थात् अरे मैत्रेयि। सबों की इष्ट की पूर्ति के लिए सब प्रिय नहीं होते हैं आत्मा की इष्ट की पूर्ति के लिए सब प्रिय होते हैं। अतएव अरे मैत्रेयि। आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और ध्यान करना चाहिये। अरे मैत्रेयि! आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और ध्यान कर लेने पर यह सम्पूर्ण जगत विदित हो जाता है। यही वाक्य इस अधिकरण का विषय वाक्य है। इस श्रुति के विषय में यह सन्देह होता है कि—इस वाक्य में जिसे द्रष्टव्य बतलाया गया है, वह आत्मा सांख्य शास्त्रोक्त पुरुष ही है, अथवा आत्मा शब्द से सर्वज्ञ; सत्य संकल्प तथा सर्वेश्वर परमात्मा कहा गया है? क्या मानना ठीक है? पूर्व पक्षी का कहना है कि उसे साँख्य शास्त्रोक्त पुरुष ही मानना ठीक है। क्योंकि उसके आदि मध्य और अन्त में पुरुष की ही प्रतीति होती है। क्योंकि इस ब्राह्मण के आरम्भ में पति पत्नी, पुत्र वित्त, पशु आदि के प्रिय होने के कारण जिसको वे प्रिय हैं वह जीवात्मा ही है, यह प्रतीत होता है। इस प्रकरण

के बीच में भी आत्मा को उत्पत्ति और विनाशवान् बतलाती हुई निम्न श्रुति कहती है—'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य. समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति ।' अर्थात्—विज्ञानघन= जीवशरीर रूप में परिणत पञ्च महाभूतों से उत्पन्न होकर उनके नष्ट होने के बाद नष्ट हो जाता है। और इस प्रकरण के अन्त में भी श्रुति आत्मा को विज्ञाता बतलाती हुई कहती है कि—विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' अरे मैत्रेयी विज्ञाता आत्मा को किस साधन के द्वारा जाना जा सकता है ? इन सभी श्रुतियों के द्वारा ज्ञात होता है कि इन श्रुतियों में आत्मा शब्द के द्वारा ज्ञाता जीव ही कहा गया है, ईश्वर नहीं । अतएव यह निश्चय होता है कि यह वाक्य साँख्य शास्त्रोक्त जीव का ही प्रतिपादन करता है ।

मूल—ननु *अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेनेत्युपक्रमादमृतत्व-प्राप्त्युपायोपदेशपरमिदं वाक्यमित्यवगम्यते । तत्कथं पुरुषप्रतिपादनपरत्वमस्य वाक्यस्य ? तदुच्यते-अत एव ह्यत्र पुरुषप्रतिपादनम् । तन्त्रे ह्यचिद्धर्माध्यासवियुक्तपुरुष-स्वरूपयाथात्म्यविज्ञानमेवामृतत्वहेतुत्वेनोच्यते । अतो जीवात्मनः प्रकृतिवियुक्तं स्वरूपमिहामृतत्वाय *आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः इत्यादिनोपदिश्यते । सर्वेषामात्मनां प्रकृतिवियुक्तं स्वरूपमेकरूपमिति प्रकृतिवियुक्तस्वात्म-

याथात्म्यविज्ञानेन सर्व एवात्मानो विदिता भवन्ती-त्यात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुपपन्नम्, देवादिस्थावरान्तेषु सर्वेषु भूतेष्वात्मस्वरूपस्य ज्ञानैकप्रकारत्वात् *इदं सर्वं यदयमात्मा इत्यैकात्म्योपदेशः, देवाद्याकाराणामनात्माकारत्वात् *सर्वं तं परादात् इत्यादिनाऽन्यत्वनिषेधश्च, *यत्र हि द्वैतमिव भवतीति च नानात्वनिषेधेनैकस्वरूपे ह्यात्मनि देवादिप्रकृतिपरिणामभेदेननानात्व मिथ्येत्युच्यते, *तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदः इत्याद्यपि प्रकृतेरधिष्ठातृत्वेन पुरुषनिमित्तत्वाज्जगदुत्पत्तेरुपपद्यते । एवमस्मिन्वाक्ये पुरुषपरे निश्चिते सति तदैकात्म्यत्सिर्वे वेदान्तास्तन्त्रसिद्धं पुरुषमेवाभिदधतीति तदधिष्ठता प्रकृतिरेव जगदुपादानम्, नेश्वरः इति ॥

अनु०:—यदि यहां पर यह शंका होती है कि 'धन के द्वारा अमृतत्व प्राप्ति की आशा नहीं है ।' यह इस प्रकरण की आदि में आये हुए वाक्य से पता चलता है कि यह वाक्य मोक्ष प्राप्ति के साधनों का उपदेश करता है। अतएव कैसे कहा जा सकता है कि यह वाक्य साँख्य शास्त्रोक्त पुरुष का प्रतिपादन करता है ? तो इसका उत्तर है कि इसीलिए तो इस प्रकरण में

सांख्य शास्त्रोक्त पुरुष का प्रतिपादन किया गया है क्योंकि सांख्य शास्त्र में माना जाता है कि प्रकृति के धर्मों के अभ्यास से रहित पुरुष के स्वरूप का ठीक ठीक ज्ञान रूप विज्ञान मोक्ष का साधन है। इसी लिए जीवात्मा का प्राकृतिक धर्माध्यास रहित स्वरूप मोक्ष के साधन रूप में—'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' इत्यादि श्रुति के द्वारा उपदिष्ट होता है। सभी जीवात्माओं का प्रकृति से रहित रूप एक समान है अतएव आत्मा के प्रकृति से रहित रूप का वास्तविक रूप से ज्ञान हो जाने से सभी आत्माओं का ज्ञान हो जाता है; इस तरह केवल आत्मा के ज्ञान से सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा का निर्वाह भी हो जाता है। देवता से लेकर स्थावर वृक्ष पर्यन्त जितने प्राणी है उन सबों का प्राकृति वियुक्त रूप केवल ज्ञान स्वरूप ही है, इसी लिए आत्मा की एकरूपता का उपदेश करती हुई श्रुति कहती है, 'यह सब कुछ जो प्रत्यक्ष है यह आत्म स्वरूप ही है' यह श्रुति आत्मैकत्व का उपदेश देती है। ये देव आदि जो भिन्न भिन्न जीवों में आकार हैं वे आत्मा के आकार नहीं हैं। अतएव ही श्रुति देवत्व आदि के आत्मा के आकारत्व का निषेध करती हुई कहती है, 'सर्वं तं परादात्' अर्थात्—ज्ञानस्वरूपाकार व्यतिरिक्त जो आत्मा के स्वरूप को जानता है उसे सब त्याग देते हैं।' 'जहां पर भेद के समान प्रतीत होती है, यह श्रुति भी आत्मा के आकार भेद के निषेध पुरस्सर यह बतलाती है कि सभी आत्माओं का आकार एक ही है। प्रकृति के परिणाम की भिन्नता के कारण जो देव आदि (मनुष्य, पशु,

पक्षी इत्यादि) रूप से जो भिन्नता प्रतीत होती है, वह प्रतीति मिथ्या है। 'तस्य ह्वा एतस्य महतोभूतस्य निःश्वपितमेतद् यदृग्वेदः' अर्थात् प्रसिद्ध उस महत्त्वगुण सम्पन्न पुरुष का यह जो ऋग्वेद आदि वेद हैं वे—श्वास हैं। इस श्रुति का भी अभिप्राय है कि चूंकि पुरुष प्रकृति का अधिष्ठाता है अतएव वह पुरुष ही प्रकृति को अपना अधिष्ठान बनाकर जगत् को उत्पन्न करता है।

इस तरह जब यह निश्चित हो जाता है कि यह वाक्य पुरुष का ही प्रतिपादन करता है, तो सर्वशाखा प्रत्यय न्याय के अनुसार सभी वेदान्त वाक्यों में अर्थ की समानता होने के कारण यह निश्चित हो जाता है कि सभी वेदान्त वाक्य सांख्य शास्त्रोक्त पुरुष को ही कारण रूप से प्रतिपादित करते हैं। इस तरह सिद्ध होता है कि पुरुष के द्वारा अधिष्ठित प्रकृति ही जगत् का उपादान कारण है। ईश्वर नहीं—

मूलः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—वाक्यान्वयात् इति। सर्वेश्वर एवास्मिन्वाक्ये प्रतीयते। कुतः ? एवमेव हि वाक्यान्वय उपपद्यते। नानमवग्रे.न्व यस्समञ्जसो भवति। *अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेनेति याज्ञवल्क्येनाभिहिते *येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहि* इत्यमृतत्वानुपायतया वित्ताद्यानानरेणामृतत्वप्राप्त्युपायमेव प्रार्थयमानायै मैत्रेय्यै तदुपायतया द्रष्टव्यत्वेनोपदिष्टो

ऽयमात्मा परमात्मैव, ॐतमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति ॐतमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्थाः इत्यादिभिरमृतत्वस्य परमपुरुषवेदनैकोपायतया प्रतिपादनात् । परमपुरुषविभूतिभूतस्य प्राप्तुरात्मनस्स्वरूपयाथात्म्यमपवर्गसाधनपरमपुरुषवेदनोपयोगितयाऽवगन्तव्यम्, न स्वत एवोपायत्वेन । अतोऽत्र परमात्मैवामृतत्वोपायतया ॐद्रष्टव्यः इत्यादिनोपदिश्यते । तथा ॐतस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निश्श्वसितमेतद्यदृग्वेदः इत्यादिना कृत्स्नस्य जगतः कारणत्वमुच्यमानं परमपुरुषादन्यस्य कर्मपरवशस्य मुक्तस्य निर्व्यापारस्य च पुरुषमात्रस्य न संभवति । तथा *आत्मनो वा अरे दर्शनेनेत्यादिना एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमभिधीयमानं सर्वात्मभूते परमात्मन्येवावकल्पते ।

इस तरह से उपर्युक्त प्रकार का पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर सूत्रकार कहते हैं—वाक्यान्वयात् १४ । १९ ॥ अर्थात् 'आत्मा वाऽरे' इत्यादि मैत्रेयी ब्राह्मण के वाक्यों में आत्मा शब्द से परमात्मा ही कहे गये हैं । यह प्रतीत होता है। क्योंकि आत्मा शब्द को परमात्मा का वाचक ही मानने पर वाक्यों के अवयवों का परस्पर में अन्वय सम्भव हो पाता है। क्योंकि महर्षि याज्ञ-

वल्क्य के यह कहने पर कि 'धन के द्वारा अमृतत्व (मोक्षा-धिगम) की आशा नहीं है।' (बृ० ४।५।३) मैत्रेयी ने कहा—भगवन् ! जिसके द्वारा मैं मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सकती हूँ, उस सम्पति को लेकर मैं क्या करूंगी। अतएव आप जिसे मोक्षाधिगम के साधन रूप से जानते हैं मुझे उसका ही उपदेश दें।' (बृ० उ० ४।५।४) इस तरह से मोक्ष का साधन नहीं होने से सम्पत्ति इत्यादि का अनादर करने के कारण मोक्ष प्राप्ति के साधन के लिए ही प्रार्थना करने वाली मैत्रेयी को मोक्ष के साधन रूप से जिस आत्मा का याज्ञवल्क्यनेउपदेश दिया है, वह आत्मा परमात्मा ही है। क्योंकि—तमेवं विदित्वाति मृत्युमेति' अर्थात् पुरुष सूक्त में वर्णित उस परमात्मा के स्वरूप तथा ऐश्वर्य को जानकर मुमुक्षु उपासक मोक्ष प्राप्त कर लेता है।' तथा—'उस परमात्मा को इस प्रकार से जानकर उसकी उपासना करने वाला मुमुक्षु उपासक इस लोक में ही मुक्त हो जाता है। मोक्षावाप्ति का कोई दूसरा साधन नहीं है।' इत्यादि श्रुतियां प्रतिपादन करती हैं कि मोक्ष की प्राप्ति का एकमात्र साधन परमात्मा के स्वरूप ऐश्वर्य इत्यादि का ध्यान (ज्ञान) ही है। परमात्मा के शरीर (ऐश्वर्य) भूत जीवात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान मोक्ष का साधन और मोक्ष के साधनभूत पर-मात्मा के स्वरूप आदि के ज्ञान का उपयोगी है, यह समझना चाहिये। स्वयं वह (आत्मा के स्वरूप का ज्ञान) मोक्ष का साधन नहीं है। इसलिए इस मैत्रेयी ब्राह्मण में 'द्रष्टव्यः' पद

के द्वारा (परमात्मा)ही मोक्ष की प्राप्ति के साधन रूप सेनिर्दिष्ट किया गया है ।

इसी तरह—

'तस्य.हवा एतस्य महतो भूतस्य, निश्वसितमेतद् यदृग्वेदः'

(बृ० उ० ४।५।११)

अर्थात्—सर्वों से महान् इस परमात्मा के सभी ऋग्वेद आदि जो वेद हैं वे उसके निःश्वास के समान विना प्रयास के निकले हुए हैं । इत्यादि मन्त्र के द्वारा सम्पूर्ण जगत् के कारण रूप से कहा जाने वाला पुरुष परम पुरुष से भिन्न जीवात्मा नहीं हो सकता है । क्योंकि बद्धावस्था में कर्म परवश होने के कारण वह जगत का कर्ता नहीं हो सकता है, और मुक्तावस्थास्थित जीव 'यद्यपि आविर्भूत गुणाष्टक हो जाता है किन्तु वह) सृष्टि आदि जगद् व्यापार से रहित होता है । अतएव वह भी जगत् का कारण नहीं हो सकता है। इसी तरह 'आत्मनोवाऽरे दर्शनेन' अर्थात् अरे मैत्रेयी आत्मा का साक्षात्कार कर लेने से सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है ।'—इस श्रुति के द्वारा प्रतिपादित किया जाने वाला एक विज्ञान से सर्व विज्ञान सर्वों की आत्मा रूप परमात्मा में ही सम्भव है ।

मूल—यत्वेतदेकरूपत्वादात्मनामेकात्मविज्ञानेन सर्वात्मविज्ञानमुच्यत इति; तदयुक्तम्; अचेतनप्रपञ्चज्ञानाभावेन सर्वविज्ञानाभावात् । प्रतिज्ञोपपादनाय च *इदं ब्रह्मेदं

क्षत्रमित्युपक्रम्य *इदं सर्वं यदयमात्मेति प्रत्यक्षादिसिद्धं चिदचिन्मिश्रं प्रपञ्चम् इदमिति निर्दिश्य, एतदयमात्मेत्यैकात्म्योपदेशश्च परमात्मन एवोपपद्यते । नहीदंशब्दवाच्यं चिदचिन्मिश्र जगत्पुरुषेणाचित्संसृष्टेन तद्वियुक्तेन स्वरूपेण वाऽवस्थितेन चैक्यमुपगच्छति । अत एव *सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनस्सर्वं वेद इति व्यतिरिक्तत्वेन सर्ववेदननिन्दा च, तथा प्रथमे च मैत्रेयीब्राह्मणे *महद्भूतमनन्तमपारमिति श्रुता महत्त्वादयो गुणाः परमात्मन एव संभवन्ति । अतस्स एवात्र प्रतिपाद्यते ।

अनु०:—पूर्वपक्षी ने यह जो कहा है कि चूंकि सभी आत्माओं का आकार एक समान है, अतएव एक आत्मा के ही स्वरूप विज्ञान से सभी आत्माओं का विज्ञान होता है, यह श्रुति वतलाती है। तो पूर्व पक्षी का यह भी कहना उचित नहीं है। क्योंकि आत्मा के स्वरूप का केवल ज्ञान हो जाने से जगत् का अर्द्धांश जो अचेतन का स्वरूप है, वह ज्ञात नहीं होने से आत्म स्वरूप विज्ञान से सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान सम्भव नहीं है। और एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा का ही प्रतिपादन करने के लिए [बृ० उ० ४।५।७] श्रुति में 'यह जो ब्राह्मण वर्ण है, यह जो क्षत्रिय वर्ण है' यहां से लेकर 'यह जो सम्पूर्ण जगत् है, वह ब्रह्मात्मक है' पर्यन्त श्रुति के द्वारा प्रत्यक्ष आदि

के द्वारा प्रतीत होने वाला जड़चेतनात्मक यह सम्पूर्ण जगत् का इदम् शब्द के द्वारा निर्देश करके यह सब कुछ आत्मा ही है। इत्यादि के द्वारा उसे परमात्मक रूप से उपदेश दिया गया है। अतएव इसका एकात्मत्वोपदेश परमात्मा का ही सम्भव है। इस सम्पूर्ण जड़चेतनात्मक जगत् को पुरुष (जीव) के साथ एकता सम्भव नहीं है, चाहे वह प्रकृति संसर्ग से युक्त बद्धावस्था में हो अथवा प्रकृति के सम्बन्ध से रहित मुक्तावस्था में हों। इसीलिए परमात्मात्मकत्व व्यतिरिक्त रूप से जगत् को जानने वाले की निन्दा करती हुई श्रुति कहती है 'सर्वं तं परादात् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद।' अर्थात् परमात्मात्मकत्व व्यतिरिक्त रूप से आत्मा को जानने वाले को सभी वस्तुएं त्याग देती हैं। और प्रथम मैत्रेयी ब्राह्मण (उत्तर मैत्रेयी ब्राह्मण) के 'महद्भूतमनन्तमपारम्' अर्थात् जो परमात्मा महत्त्वगुण विशिष्ट, अनन्त [देशकाल एवं वस्तु की सीमाओं से रहित] तथा अपार है' इस श्रुति में सुने गये महत्त्व आदि गुण परमात्मा के ही संभव हैं। अतएव इस मैत्रेयी ब्राह्मण में उस ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है। जीवमात्र का नहीं।

मूलः—यदुक्तं पतिजायापुत्रवित्तपश्वादिप्रियान्वयिनो जीवात्मन उपक्रमे त्वन्वेष्टव्यतया प्रतिपादनात्तद्विषयमेवेदं वाक्यमिति, तदयुक्तम्, ॐआत्मनस्तु कामायेत्यात्मशब्देन जीवात्मसशब्दनेतस्य ॐआत्मा वा अरे द्रष्टव्य

मूल—इत्यात्मनो द्रष्टव्यत्वोपयोगितया *आत्मनस्तु कामाये-त्युपदिष्टमिति प्रतीयते। आत्मनस्तु कामाय—आत्मनः कामसम्पत्तये, काम्यन्त इति कामाः, आत्मन इष्टसंपत्तय इति यावत्। नच जीवात्मन इष्टसंपत्तये पत्यादयः प्रिया भवन्तीत्युक्ते सति तस्य जीवस्य स्वरूपमन्वेष्टव्यं भवति। प्रियमेव ह्यन्वेष्टव्यम्, नतु प्रियं प्रति शेषिणा प्रियवियुक्तं स्वरूपम्। यस्मादात्मन इष्टसंपत्तये पत्यादयः प्रिया भवन्ति, तस्मात्पत्यादि प्रियं परित्यज्य तद्वियुक्तमात्मस्वरूपमन्वेष्टव्यमित्यसङ्गतं भवति। प्रत्युत न पत्यादिशेषतया पत्यादीनां प्रियत्वम्, अपि त्वात्मनश्शेषतयापत्यादीनां प्रियत्वमित्युक्ते स्वशेषतया त एवोपादेयास्स्युः। *आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवतीत्यस्य परेणानन्वये वाक्यभेदः प्रसज्यते। अभ्युपगम्यमानेऽपि वाक्यभेदे पूर्ववाक्यस्य न किञ्चित्प्रयोजनं दृश्यते। अतः पत्यादि सर्वं प्रियं परित्यज्यात्मन एवान्वेष्टव्यत्वं यथा प्रतीयते, तथा वाक्यार्थो—वर्णनीयः। सोऽयमुच्यते—*अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति वित्तेनेति वित्तादीनां नित्यनिर्दोषनिरतिशयानन्दरूपा—

मृतत्वप्राप्त्यनुपायतामुक्त्वा वित्तपुत्रपतिजायादीनां साति-शयदुःखमिश्रकादाचित्कप्रियत्वमनुभूयमानं न पत्यादि-स्वरूपप्रयुक्तम्, अपितु निरतिशयानन्दस्वभावपरमात्म-प्रयुक्तम् । अतो य एव स्वयं निरतिशयानन्दस्सन्न-न्येषामपि प्रियत्वलेशास्पदत्वमापादयति, स परमात्मैव द्रष्टव्य इत्युपदिश्यते ।

तदयमर्थः—*न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति—न हि पतिजायापुत्रवित्तादयो मत्प्रयोज-नायाहमस्य प्रियस्यामिति स्वसङ्कल्पात्प्रिया भवन्ति, अपि त्वात्मनः कामाय—परमात्मनस्स्वाराधकप्रियप्रति-लम्भनरूपेष्टनिवर्त्तय इत्यर्थः । परमात्मा हि कर्मभि-राराधितस्तत्तत्कर्मानुगुणं प्रतिनियतदेशकालस्वरूप-परिमाणमाराधकानां तत्तद्वस्तुगतं प्रियत्वमापादयति *एष ह्येवानन्दयतीति श्रुतेः । न तु तत्तद्वस्तु स्वरूपेण प्रियमप्रियं वा । यथोक्तं—*तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुः-खाय जायते । तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते ॥ तस्माद्दुःखात्मकं नास्ति न च...सुखात्मकम् ॥ इति ।

अनु०:—साँख्यों ने यह जो कहा है कि—पति, पत्नी, पुत्र वित्त, पशु आदि जिसके प्रिय सम्बन्धी हैं, ऐसा जीवात्मा ही

इस मैत्रेयी ब्राह्मण के उपक्रम में अन्वेष्टव्य रूप से प्रतिपादित किया गया है अतएव इस वाक्य में भी आया हुआ आत्मा शब्द जीवात्मा को ही अपना विषय बनाता है। तो सांख्यों का यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि 'आत्मनस्तु कामाय' इस श्रुति में आये हुए आत्मा शब्द के द्वारा जीवात्मा का अभिधान मानने पर इसका 'आत्मावाऽरे द्रष्टव्यः' इस श्रुति में भी सम्बन्ध होने लगेगा। क्योंकि 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' इस श्रुतिमें जिस आत्मा को द्रष्टव्य बतलाया गया है उसी के उपयोगी रूप में 'आत्मनस्तु कामाय' यह श्रुति आयी है। आत्मनस्तु कामाय का अर्थ है आत्मा के इष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिए काम्यन्ते इति कामाः इस व्युत्पत्ति के अनुसार काम शब्द अभिलषित पदार्थों का वाचक है। इस तरह अर्थ हुआ कि आत्मा के अभिलाषित पदार्थों की प्राप्ति के लिए। यहां पर यह नहीं कहा जा सकता है कि जीवात्मा की इष्ट अर्थो की प्राप्ति के लिए पति आदि प्रिय होते हैं, यह कहने पर उस जीव का स्वरूप ही अन्वेषण के योग्य सिद्ध होता है। तो यह कहना ठीक नहीं है—क्योंकि प्रिय वस्तु ही अन्वेषणीय होता है। प्रिय वस्तुओं का जो स्वामी होता है उसका स्वरूप अन्वेषणीय तो होता नहीं। क्योंकि वह शेषी का स्वरूप तो प्रिय से वियुक्त है। चूंकि आत्मा के अभिलाषित अर्थो की प्राप्ति के लिए पति इत्यादि प्रिय होतेहैं, अतएव उन पति आदि प्रिय पदार्थों को छोड़कर उन सबों से रहित आत्मा के स्वरूप को अन्वेष्टव्य बतलाना, यह तो असङ्गत बात है। क्योंकि

पति आदि तो पति आदि के भोग्य होने के कारण प्रिय नहीं होते हैं अपितु आत्मा के भोग्य होने के कारण पति आदि प्रिय होते हैं। यह कहने पर तो यही सिद्ध हुआ कि आत्मा के शेष (भोग्य) होने के कारण पति आदि ही अन्वेष्टव्य हैं। (किंतु सांख्य विद्वान् तो आत्मा को जीवात्मा का वाचक मानकर उसी के स्वरूप को अन्वेषणीय मानते हैं।) 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।' इस श्रुति में आये हुए आत्मा शब्द का पर-मात्मा से सम्बन्ध नहीं मानने पर वाक्य भेद भी होगा। यदि वाक्य भेद नही भी स्वीकार किया जाय तो भी इस वाक्य से पूर्व वाक्य का कोई भी प्रयोजन नहीं दिखाई पड़ता है। अतएव पति आदि सभी प्रिय पदार्थों को छोड़कर जिस तरह आत्मा की ही अन्वेषणीयता प्रतीत होते हैं उसी तरह का वाक्य का अर्थ करना चाहिये। उस अर्थ को नीचे बतलाया जा रहा है। अमृतस्य तु नाशास्ति वित्तेन' अर्थात् धन के द्वारा तो मोक्ष प्राप्ति की आशा नहीं है। इस तरह वित्त आदि को नित्य सर्वोत्कृष्ट आनन्द स्वरूप मोक्ष प्राप्ति के साधनत्व का खण्डन करके धन; पुत्र, पति, और पत्नी आदि का सीमित दुःख मिश्रित, सर्वदा प्राप्त होने वाला जो प्रियत्व अनुभव किया जाता है; उनका उस प्रकार का अनुभव पति आदि के स्वरूप के कारण नहीं अपितु सर्वोत्कृष्ट आनन्द स्वभाव वाले परमात्मा के कारण होता है। अतएव जो परमात्मा स्वयम् सर्वोत्कृष्ट आनन्द स्वरूप होते हुए अपने से भिन्न पति, पत्नी, धन आदि

को भी थोड़ा प्रिय बना देता है. वह परमात्मा ही है। उसी का श्रवण, मनन और ध्यान के द्वारा साक्षात्कार करना चाहिये। इस बात का श्रुति उपदेश देती है। उस श्रुति का यह अर्थ है, कि 'न वा अरे ! पत्युः कामाय पतिः प्रियोभवति' अर्थात् पति पत्नी, पुत्र सम्पत्ति आदि मेरे प्रयोजन की सिद्धि के लिए है मैं इन सबों का प्रिय होऊं इस प्रकार के सङ्कल्प के द्वारा प्रिय नहीं होते हैं, अपितु आत्मा अर्थात् परमात्मा के जो आराधन करने वाले हैं उनके प्रिय अर्थ की प्राप्ति रूप इष्ट अर्थ को प्राप्ति के लिए ही वे प्रिय होते हैं, यह उक्त श्रुति का अर्थ हुआ। क्योंकि तत् तत् कर्मों के द्वारा आराधित होकर उन कर्मों के अनुसार परमात्मा अपने आराधकों के निश्चित देश, काल, तथा स्वरूप के परिमाण में विभिन्न वस्तुओं को प्रिय बना देता है। इस अर्थ का प्रतिपादन 'एष ह्येवानन्दयति' अर्थात् यह परमात्मा ही सभी वस्तुओं को प्रिय बनाता है।' यह श्रुति बतलाती है। कोई भी वस्तु स्वरूपतः प्रिय अथवा अप्रिय नहीं हुआ करती है। जैसा कि कहा भी गया है—तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते। तदेव कोपाय च यतः प्रसादाय च जायते ॥ तस्माद्दुःखात्मकं नास्ति न च किंचित् सुखात्मकम्।—जिन कर्मों के द्वारा परमात्मा प्रसन्न होता है उसके द्वारा प्राप्त होने वाला भोग भोगोपकरण तथा भोगस्थान परमात्मा के सत्य संकल्प से प्रिय होता है। और जिन कर्मों से परमात्मा अप्रसन्न होता है, उसके

कारण जो परमात्मा के संकल्प मात्र से प्राप्त होने वाली भोग्य वस्तुएं हैं वे दुःखद होती हैं। अतएव कोई भी वस्तु न तो दुःखात्मक होती है और न तो सुखात्मक।

मूल—*आत्मनस्तु कामायेत्यस्य जीवात्मपरत्वेऽपि *आत्मा वा अरे द्रष्टव्य इति तु परमात्मविषयमेव। तत्रायमर्थः— यस्मात्पत्यादीनामिष्टसंपत्तये तत्परवशेन पत्यादयः प्रियत्वेन नोपादीयन्ते, अपि स्वात्मेष्टसंपत्तये स्वतन्त्र्येण स्वप्रियत्वेनोपादीयन्ते; तस्माद्य एवात्मनो निरुपाधिक-निर्दोषनिरवधिकप्रियः परमात्मा, स एव हि द्रष्टव्यः, न दुःखमिश्राल्पसुखदुःखोदर्काः परायत्ततत्तात्स्वभावाः पतिजायापुत्रवित्तादयो विषयाः इति। अस्मिंस्तु प्रकरणे जीवात्मवाचिशब्देनापि परमात्मन एवाभिधानात् *आत्मनस्तु कामाय, *आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः इति पूर्वोक्तप्रक्रिययोभयत्रात्मशब्दावेकविषयौ ॥ १९ ॥

अनु०:—किञ्च—'आत्मनस्तु कामाय' इत्यादि श्रुति में यदि आत्मा शब्द को जीव का वाचक मान भी लिया जाय तो भी 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' इत्मादि श्रुति में आया हुआ आत्मा शब्द परमात्मा का ही वाचक है। और उस श्रुति का भी यही अर्थ है। चूंकि पति आदि के इष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिए पर–

मात्मा के अधीन होने के कारण पति आदि प्रिय रूप से नहीं प्रतीत होते हैं। अपितु आत्मा के इष्ट अर्थ की प्राप्ति के ही लिए स्वतन्त्र रूप से अपने प्रिय रूप से गृहीत होते हैं। अतएव जो परमात्मा स्वाभाविक रूप से सभी दोषों से रहित होने के कारण आत्मा का अत्यन्त प्रिय है। उसी को देखना चाहिये। न कि वे पति, पत्नी, पुत्र, वित्त आदि विषय दर्शनीय नहीं है जिनका स्वभाव है कि वे परमात्मा के अधीन रहते हैं। तथा जिनके दर्शन का फल दुःख मिश्रित अल्प सुख की प्राप्ति और दुख की प्राप्ति है। और इस मैत्रेयी ब्राह्मण के प्रकरण में तो चूंकि जीवात्मा के वाचक शब्द के द्वारा भी परमात्मा का ही अभिधान होता है इसलिए 'आत्मनस्तु कामाय' इस श्रुति में आया हुआ आत्मा शब्द तथा 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' इस श्रुति का आत्मा शब्द पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार परमात्मा का ही वाचक है।

मतान्तरेणापि जीवशब्देन परमात्माभिधानोपपादनायाह—

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥ १ । ४ । २० ॥

मूल—एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञासिद्धेरिदं लिङ्गम्, यज्जीवात्मवाचिशब्दैः परमात्मनोऽभिधानम् इत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते स्म। यद्ययं जीवः परमात्मकार्यतया परमात्मैव न भवेत्, तदा तद्व्यतिरिक्ततया परमात्मविज्ञानादेतद्विज्ञानं न सेत्स्यति। ॐआत्मा वा इदमेक

एवाग्र आसीदिति प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणात्, *यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गास्सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद्विविधास्सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥ इत्यादिभिर्ब्रह्मणो जीवानामुत्पत्तिश्रवणात्तस्मिन्नेव लयश्रवणाच्च जीवानां ब्रह्मकार्यत्वेन ब्रह्मणैक्यमवगम्यते। अतो जीवशब्देन परमात्माभिधानमिति ॥ २० ॥

अनु०:—अब आगे के [इस अधिकरण के तीन सूत्रों में से दो सूत्र जो भिन्न महर्षियों के मत के आपादक हैं उनके द्वारा भी यह बतलाया जा रहा है कि] दूसरे आचार्यों के भी मत में जीव का वाचक आत्मा शब्द परमात्मा का वाचक होता है। इन दोनों सूत्रों में पहला सूत्र है—

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः' ॥ १ । ४ । २० ॥

अर्थात् चूंकि आत्मा शब्द को परमात्मा का वाचक मानने पर ही एक विज्ञान के द्वारा सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा की सिद्धि होने के ही कारण आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं कि जीवात्मा का वाचक भी इस प्रकरण का आत्मा शब्द परमात्मा का वाचक है। यदि वह जीवात्मा परमात्मा का कार्य होने के कारण परमात्मा ही नहीं होता तो फिर परमात्म व्यतिरिक्त होने के कारण परमात्म विज्ञान के द्वारा जीवात्मा का विज्ञान नहीं सिद्ध होता।

'आत्मा व इदमेक एवाग्र असीत्' अर्थात् निश्चय ही सृष्टि से पूर्व यह सम्पूर्ण जगत् परमात्म स्वरूप ही था–इस श्रुति के द्वारा सृष्टि से पूर्व आत्मा और आत्मा के द्रव्य के एकत्व निश्चय होने के कारण, 'यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते स्वरूपाः । तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्तेतत्र चैवापियन्ति ॥' अर्थात् हे सोमरस पानार्हं सच्छिष्य जिस तरह पूर्ण रूप से जलती हुई आग से उसी के समान रूप वाले अनेकों चिनगारियां निकलती हैं । उसी प्रकार इस विकार रहित पुरुष परमात्मा से अनेक जीव आदि भाव पदार्थ उत्पन्न होकर प्रलयकाल में उसी में लीन हो जाते हैं । इत्यादि वाक्यों के द्वारा ब्रह्म से ही जीवों की उत्पत्ति सुनी जाने के कारण तथा उसी ब्रह्म में जीवों का लय भी सुनेजाने के कारण भी, जीवों के ब्रह्म का कार्य होने से जीवों की ब्रह्म से एकता प्रतीत होती है । अतएव जीव के वाचक शब्द आत्मा के द्वारा परमात्मा का ही अभिधान होता है ।

१३०उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडुलोमिः ॥१४।२१॥

मूल–यदुक्तं जीवस्य ब्रह्मकार्यतया ब्रह्मणैक्येनैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपादनार्थं ब्रह्मणो जीवशब्देन प्रतिपादनमिति, तदयुक्तं ❀न जायते म्रियते वा विपश्चिदित्यादिनाऽजत्वश्रुतेर्जीवात्मनां प्राचीनकर्मफलभो-

गाय जगत्सृष्ट्यभ्युपगमाच्च, अन्यथा विषमसृष्ट्यनुपपत्तेश्च, ब्रह्मकार्यस्य जीवस्य ब्रह्मतापत्तिलक्षणो मोक्ष आकाशादिवदर्जनीय इति तदुपायविधानानुष्ठानानर्थक्याच्च, घटादिवत्कारणप्राप्तेर्विनाशरूपत्वेन मोक्षस्यापुरुषार्थत्वाच्च। जीवात्मन उत्पत्तिप्रलयवादोपपत्तिरुत्तरत्र प्रपञ्चयिष्यते *यथा नद्यः स्यन्दमानास्समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।। इत्युक्तमिष्यतः परमात्मभावाज्जीवशब्देन परमात्मनोऽभिधानमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते स्म ॥ २१ ॥

अनु०–औडुलोमि आचार्य मानते हैं कि 'परंज्योतिः संपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते। यह औपनिषद वचन बतलाया है कि–यह साधक शरीर से निकलकर परंज्योति परं ब्रह्म को प्राप्त करके अपने स्वरूप (अविर्भूतगुणाष्टकता) को प्राप्त कर लेता है। इससे सिद्ध होता है कि जीव शरीर से निकलने के पश्चात् परमात्म भाव को प्राप्त होता है फलतः मोक्ष में जीव परमात्मा के सदृश बन जाता है। अतएव जीव के वाचक शब्द के द्वारा परमात्मा ही अभिहित किये जाते हैं। यह सूत्र का अर्थ हुआ।

इससे पहले के (१। ४। २०) सूत्र में यह जो बतलाया

गया है कि चूंकि जीव ब्रह्म का कार्य है अतएव उसकी ब्रह्म के साथ द्रव्य की एकता होने के कारण एक विज्ञान से सर्वविज्ञान प्रतिज्ञा की सिद्धि करने के लिए ब्रह्म का जीव के वाचक आत्मा शब्द के द्वारा प्रतिपादन किया गया है। तो यह कहना इसलिए उचित नहीं कि 'नजायते म्रियते वा विपश्चित्' अर्थात् विपस्चित् जीवात्मा न तो उत्पन्न होता है और न तो मरता है। इत्यादि जीव के जन्म शून्यत्व की प्रतिपादिका श्रुति के द्वारा जीवों के पूर्व जन्म के किये हुये कर्मों का फल भोगने के लिए ही जगत् की सृष्टि होती है, यह स्वीकार किये जाने के कारण तथा यदि कर्म फल भोग के लिए सृष्टि नहीं मानी जाय तो फिर सृष्टि में पाये जानेवाले वैषम्य का औचित्य नही सिद्ध हो सकता है। जीव ब्रह्म का कार्य है और उसका ब्रह्म हो जाना ही मोक्ष है। उसको यह ब्रह्मतापत्ति रूप मोक्ष को उसी तरह निषेध नहीं किया जा सकता है, जिस तरह घट आदि उपाधियों के समाप्त हो जाने पर घटाकाश मठाकाश आदि औपाधिक आकाश समाप्त होकर महाकाश में मिल जाते है। इसीतरह शरीरादि उपाधियों के समाप्त होने पर यह जीव अपने कारणभुत ब्रह्म में मिल जाता है। तो यह भी कहना इसलिए उचित नहीं होगा कि तव तो फिर जो मोक्ष प्राप्ति के साधन रूप से उपाय वतलाये गये हैं व्यर्थ हो जायेंगे। किञ्च जिस तरह घट इत्यादि नष्ट होकर अपने कारणभूत मृतिका द्रव्य में मिल जाते हैं यह कहने का मतलव तो यह होगा कि विनाश ही मोक्ष है। क्योंकि घट इत्यादि विनष्ट

होकर अपने कारणभूत मृतिका द्रव्य में मिल जाते हैं। उसीतरह स्वरूप नाश को ही मोक्ष मानने पर मोक्ष पुरुषार्थ स्वरूप नहीं होकर विनाश स्वरूप ही हो जायेगा। और आगे चलकर हम यह सिद्ध करेंगे कि जीव की उत्पत्ति भी होती है और उसका प्रलय भी होता है। अतएव यह जो यादव प्रकाश मतानुयपियों ने माना था कि उपाधियों के नष्ट हाने पर ब्रह्मतापत्ति लक्षण मोक्ष है, उसको कोई रोक नहीं सकता,, उचित नहीं है।

अतएव 'एप सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूप संपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' अर्थात् मोक्ष काल में यह जीवात्मा इस शरीर से निकलकर परं ज्योति स्वरूप जो परमात्मा है उसमें मिलकर अपने स्वभाविक अविभुंतगुणाष्टकता को प्रात कर लेता है।' (छा०८।३।४) तथा 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरुपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुष मुपैति दिव्यम् अर्थात् जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ समुद्र में मिलकर अपने नाम और रूप (आकार) का त्याग करके समुद्र के ही रूप में परिणत होकर समुद्र के ही आकार को प्राप्त कर लेती हैं उसी प्रकार मुक्तात्मा मोक्षावस्था में नाम और रूप से रहित होकर दिव्यगुण सम्पन्न परात्पर पुरुष परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।' इन श्रुतियों का अभिप्राय है कि मुक्तात्मा पुरुष शरीरपात के पश्चात् परमात्मभाव को प्राप्त कर लेने के कारण जीवके वाचक आत्मा शब्दके द्वारा परमात्मा का अभिधान स्वीकार करना पड़ता है। यह औडुलोमि आचार्य मानते हैं।

१३१ अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः । १ । ४ । २२ ॥

यदुक्तमुत्क्रमिष्यतो जीवस्य ब्रह्मभावाद्ब्रह्मणस्तच्छ-
ब्देनाभिधानमिति, तदप्ययुक्तम्, विकल्पासहत्वात् ।
अस्य जीवात्मन उत्क्रान्तेः पूर्वमनेवंभावः किं स्वा-
भाविकः; उतौपाधिकः तत्रापि परमार्थिकः, अपार-
मार्थिको वेति । स्वाभाविकत्वे ब्रह्मभावो नोपपद्यते
भेदस्य स्वरूपप्रयुक्तत्वेन स्वरूपे विद्यमाने तदनपा-
यात् । अथ भेदेन सह स्वरूपमप्यपैतीति तथा सति
विनष्टत्वादेव तस्य न ब्रह्मभावः, अपुरुषार्थत्वादिदो-
षप्रसङ्गश्च । पारमार्थिकौपाधिकत्वे प्रागपि ब्रह्मैवेति
उत्क्रमिष्यत एवंभावादिति विशेषो न युज्यते वक्तुम् ।
अस्मिन्पक्षे ह्युपाधिब्रह्मव्यतिरेकेण वस्त्वन्तराभावा-
न्निरवयवस्य ब्रह्मण उपाधिना च्छेदाद्यसंभवाच्चोपा-
धिगत एव भेद इत्युत्क्रान्तेः प्रागपि ब्रह्मैव । औपा-
धिकस्य भेदस्यापारमार्थिकत्वे कस्यायमुत्क्रान्तौ ब्रह्म-
भाव इति वक्तव्यम् । ब्रह्मण एवाविद्योपाधितिरो-
हितस्वस्वरूपस्येति चेन्न, नित्यमुक्तस्वप्रकाशज्ञानस्वरू-

पस्याविद्योपाधितिरोधानासंभावात् । तिरोधानं नाम वस्तुस्वरूपे विद्यमाने तत्प्रकाशनिवृत्तिः प्रकाशएव वस्तुस्वरूपमित्यङ्गीकारे तिरोधानाभावस्स्वरूपनाशो वा स्यात् । अतो नित्याविर्भूतस्वरूपत्वात्तस्योत्क्रान्तौ ब्रह्मभावे न कश्चिद्विशेष इति उत्क्रमिष्य इति विशेषणं व्यर्थमेव । ॐअस्माच्छरीरात्समुत्थायेति पूर्वमनेवंरूपस्य न तदानीं ब्रह्मतापत्तिमाह, अपितु पूर्वसिद्धस्वरूपस्याविर्भावम् । तथाहि वक्ष्यते ॐसंपद्याविर्भावस्स्वेन शब्दात् इत्यादिभिः । अतः अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य ॐय आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॐयोऽक्षरमन्तरे सञ्चरन्यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ॐअन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानां सर्वात्मा ॐइति स्वशरीरभूते जीवात्मन्यात्मतयाऽवस्थितेर्जीवशब्देन ब्रह्मप्रतिपादनमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते म । जीवशब्दश्च जीवस्य परमात्मपर्यन्तस्यैव

वाचको न जीवमात्रस्येति पूर्वमेवोक्तम् *नामरूपे व्याकरवाणीत्यत्र । एनमात्मशरीरभावेन तादात्म्यो पपादने परस्य ब्रह्मणोऽपहतपाप्मत्वसर्वज्ञत्वादिगोचराः जीवस्याविदुषश्शोचतो ब्रह्मोपासनान्मोक्षवादिन्यः, जगत्सृष्टिप्रलयाभिधायिन्यः, जगतो ब्रह्मतादात्म्योपदेशपराश्च सर्वाश्श्रुतयस्सम्यगुपपादिता भवन्तीति काशकृत्स्नीयमेव मतं सूत्रकारस्स्वीकृतवान् ।

अनु०—'य आत्मनि तिष्ठन्' अर्थात् जो परमात्मा आत्मा में रहते हुए' इत्यादि श्रुति वाक्यों के अनुसार सिद्ध होता है कि परमात्मा जीवात्मा के अन्तर्यामी रूप में अवस्थित हैं । अतएव वह परमात्मा का शरीर है । अतः जीवात्मा का वाचक शब्द जीवान्तर्यामी परमात्मा को ही बतलाकर अपने पूर्ण अर्थ में पर्यवसित होता है । अतएव जीवके वाचक आत्मा शब्दके द्वारा परमा का अभिधान होता है । यही काशकृत्स्न आचार्य मानते हैं । काशकृत्स्नाचार्य का मत ही सूत्रकार का मत है । क्योंकि ये तीनों मत परस्पर में विरुद्ध मत है, अतएव इन तीनों मतों को सूत्रकाराभिमत नहीं माना जा सकता, कोई एक ही मत सूत्रकार को अभिमत होगा । किन्तु पहले दो मतों में दोष है। निर्दोष होने के कारण ही अन्तिम काशकृत्स्न आचार्य का मत सूत्राकाराभिमत मत है, यह मानना पड़ता है । इसीलिए सूत्रकार ने काश-

कृत्स्न के मत के पश्चात् किसी मत का उल्लेख नहीं किया है। यही अन्तिम मत है। यह सूत्र का अर्थ हुआ।

औडुलोमी आचार्य ने यह जो कहा है कि–उत्क्रमण काल में चूकि स्वयं जीव ब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है अतएव ही जीव के वाचक शब्द के द्वारा ब्रह्म का अभिधान होता है। तो यह कहना इसलिए उचित नहीं है कि यदि विकल्प किया जायेगा तो यह मत विकल्पों को बर्दास्त नही कर पायेगा। क्यों कि यहां पूछना यह है कि जीवात्मा का जो यह उत्क्रमण से पूर्व स्वरूप तिरोहित रहता है, वह उसका स्वरूप तिरोधान स्वाभाविक होता है अथवा औपाधिक और वह भी स्वाभाविक स्वरूप तिरोधान अथवा औपाधिक स्वरूप तिरोधान परमार्थिक है अथवा अपारमार्थिक ! यदि जीव के स्वरूप का तिरोधान स्वाभाविक है तो फिर उसके ब्रह्मभाव की प्राप्ति संभव नहीं है। क्योंकि जीव का जो ब्रह्म से भेद होता है वह उसके स्वरुपतः होने के कारण जब मोक्षावस्था में जीव का स्वरूप विद्यमान रहता है तो फिर वह मोक्षावस्था में भी जीव ब्रह्म भेद रूप स्वरूप तिरोधान कैसे समाप्त हो सकता है।

यदि यह कहा जाय कि मोक्षावस्था में जिस तरह जीव और ब्रह्म के भेद की समाप्ति के साथ-साथ उसका स्वरूप भी समाप्त हो जाता है। फिर ऐसा मानने पर तो ब्रह्मभाव की प्राति का अर्थ होगा कि उसके स्वरूप का नाश होना। और

ऐसी स्थिति में ब्रह्मभाव की प्राप्ति केवल अपुरुषार्थ ही होगा पुरुषार्थ नही हो सकता है ।

परं ब्रह्म और जीव में होने वाले भेद को यदि घटाकाश के समान परमार्थ उपाधिकल्पित माना जाय तो इस पक्ष में भी भेद तो अपारमार्थिक ही होगा । इसलिए मोक्षावाप्ति से पहले भी वह ब्रह्म ही रहा । अतएव यह कहना कि–शरीर-पात के पश्चात् उत्क्रमण काल में ब्रह्म भाव की प्राप्ति के कारण जीव शब्द वाच्य ब्रह्म है ! यह विशेषता उचित नहीं है । चूँकि इस पक्ष में उपाधि और ब्रह्म को छोड़कर कोई दूसरी वस्तु तो रह नहीं जाती है, अतएव अवयव रहित ब्रह्म का उपाधि के द्वारा काटे जाने के योग्य न हो सकने के कारण, भेद भी उपाधि का ही होगा अतएव जीव तो मोक्ष प्राप्ति से पूर्व भी ब्रह्म ही है इस पक्ष वालों के मत में सिद्ध हुआ ।

यदि औपाधिक भेद को भी अपारमार्थिक मान लिया जाय तो फिर प्रश्न यह उठता है कि उत्क्रमण काल में कौन ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है ! यदि कहें कि अविद्या रूपी उपाधि के कारण तिरोहित स्वरूप वाले ब्रह्म ही । तो यह कहना इसलिए उचित नहीं है कि जो ब्रह्म नित्य मुक्त, स्वयं प्रकाश तथा ज्ञान स्वरूप है उसके स्वरूप को अविद्या (अज्ञान) ढंकले, यह कभी संभव नहीं है । क्योंकि वस्तु के विद्यमान रहने पर भी उसके प्रकाश को ढंक देने को ही उसके स्वरूप का तिरोधान कहते हैं ।

क्योंकि ब्रह्म का स्वरूप प्रकाश ही है। ऐसा मानने पर तिरोधान का होना असंभव होगा। अथवा तिरोधान स्वीकार करने पर ब्रह्म के स्वरूप का नाश मानना होगा। अतएव जीव का स्वरूप नित्य ही अविर्भूत हुए रहने के कारण जीव के उत्क्रमण काल में ब्रह्मभाव मानने में कोई विशेषता नहीं आती है। अतएव उत्क्रमिष्यतः यह विशेषण व्यर्थ ही होगा।

अतएव आचार्य काशकृत्स्न ने माना कि–'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य (छा०६।३२) इस जीव के साथ मैं स्वयंप्रवेश करके इन सबों के नाम रूप का विभाग करूं। 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरे। यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्, य आत्मानमन्तरो यमयति' अर्थात् जो परमात्मा आत्मा के भीतर रहता हुआ, आत्मा की अपेक्षा अन्तरंग है, और जिसे आत्मा नही जानती है, आत्मा जिस परमात्मा का शरीर है, तथा जो परमात्मा के भीतर रहकर उसका अन्तर्यामी रूप से नियन्त्रण करता रहता है, वही तुम्हारी आत्मा अमृत अन्तर्यामी है।' तथा–योऽक्षरमन्तरे संचरन् यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः। (मु० ७) अर्थात् जो परमात्मा अक्षर (जीव) के भीतर संचरण करता हुआ, जिस परमात्मा का क्षक्षर (जीव) शरीर है, और उस परमात्मा को वह अक्षर जीव उसी प्रकार से नहीं जानता है जिस प्रकार से जीव आत्मा को नही जान पाता है। यही सभी भुतों के अन्त-

नियामक, अकर्मवश्य, दिव्यगुण संपन्न एक ही देव श्रीमन्नारायण हैं। 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा (तै० आ० । १ । ३ । २१) परमात्मा सबों के भीतर प्रवेश करके सबों का नियामक होने के कारण सबों की आत्मा है। इन सभी श्रुतियों में बतलाया गया है कि जीवात्मा परमात्मा का शरीर है और परमात्मा उसकी आत्मा है। अतएव जिस तरह शरीर के वाचक देव, मनुष्य, देवदत्त आदि शब्दों के द्वारा उन-उन शरीरों के भीतर रहने वाली आत्मा का भी अभिधान होता है, उसी प्रकार परमात्मा के शरीरभूत जीव के वाचक आत्मा शब्द के द्वारा उस जीव के भीतर आत्मा रूप से रहने वाले परमात्मा का भी प्रतिपादन होता है। और पहले हम यह बतला चुके हैं कि जीव शब्द अपने अभिधेय भूतजीवात्माको बतलाते हुए अपनी आत्माभूत परमात्मा पर्यन्त का वाचक है। इस अर्थ को 'नामरूप व्याकरण (विभाग) श्रुति (६ । ३ । २) में बतलाया गया है।

इस तरह से शरीरात्म भाव सबन्ध के कारण जीव के परमात्मकत्व के प्रतिपादन किये जाने पर परं ब्रह्म को अकर्मवश्य, सर्वज्ञ आदि रूप से बतलाने वाली, ब्रह्म अज्ञानी जीव की शोकयुक्तत्व का प्रतिपादन करने वाली ब्रह्म की उपासना से मोक्षावाप्ति को बतलाने वाली, जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय को बतलाने वाली तथा ब्रह्म और जगत् में तादात्म्य संबन्ध के द्वारा अभेद का प्रतिपादन करने वाली सभी श्रुतियों का अच्छी

प्रकार से (विना किसी प्रकार की कठिनाई के) समन्वय हो जाता है। इस लिए काशकृत्स्न आचार्य के मत को सूत्रकार बादरायण ने स्वीकार किया है।

मूल-अयमत्र वाक्यार्थः-अमृतत्वोपाये मैत्रेय्या पृष्टे याज्ञवल्क्यः-
*आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः इत्यादिना परमात्मोपासनममृतत्वोपायमुक्त्वा, *आत्मनि खल्वरे दृष्टे इत्यादिनोपास्यलक्षणम् ।दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्चोपासनोपकरणभूतमनःप्रभृतिकरणनियमनं च सामान्येनाभिधाय, *स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेः इत्यादिना *स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनम् इत्यादिना चोपास्यभूतस्य परस्य ब्रह्मणो निखिलजगदेककारणत्वमुसकलविषयप्रवृत्तिमूलकरणग्रामनियमनं च विस्तरेणोपदिश्य *स यथा सैन्धवघनः इत्यादिनाऽमृतत्वोपायप्रवृत्तिप्रोत्साहनाय जीवात्मस्वरूपेणावस्थितस्य परमात्मनोऽपरिच्छिन्नज्ञानैकाकारतामुपपाद्य, तस्यैवापरिच्छिन्नज्ञानैकाकारस्य संसारदशायां भूतपरिणामानुवृत्तिं *विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यस्समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति इत्य-

भिधाय, ❀न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति इति मोक्षदशायां स्वाभाविकापरिच्छिन्नज्ञानसङ्कोचाभावेन भूतसङ्घाते-नैकीकृत्यात्मनि देवादिरूपज्ञानाभावमुक्त्वा, पुनरपि ❀यत्र हि द्वैतमिव भवति इत्यादिना अब्रह्मात्म-कत्वेन नानाभूतवस्तुदर्शनमज्ञानकृतमिति निरस्तनि-खिलाज्ञानस्य ब्रह्मात्मकं कृत्स्नं जगदनुभवतो ब्रह्म-व्यतिरिक्तवस्त्वन्तराभावेन भेददर्शनं निरस्य, ❀येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात इतिच जीवा-त्मा स्वात्मतयाऽवस्थितेन येन परमात्मना आहित-ज्ञानस्सन्निदं सर्वं विजानाति, अयं तं केन विजानी-यात्, न केनापीति परमात्मनो दुरवगमत्वमुपपाद्य ❀स एष नेतिनेति इत्यादिना अयं सर्वेश्वरस्स्वेतर-समस्तचिदचिद्वस्तुविलक्षणस्वरूप एव सर्वशरीरस्सर्व-स्यात्मतयाऽवस्थित इति स्वशरीरभूतचिदचिद्वस्तुगतै-र्दोषैर्न संस्पृश्यत इत्यभिधाय, ❀विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनाऽसि मैत्रेय्येतावदरे खल्व-मृतत्वम्❀इति समस्तवस्तुविसजातीयं निखिलजगदेक-कारणभूतं सर्वस्यविज्ञातारं पुरुषोत्तममुक्तप्रकारादुपा-

सनादृते केन विजानीयादितीदमेवोपासनममृतत्वोपायः, ब्रह्मप्राप्तिरेव चामृतत्वमभिधीयतेइत्युक्तवान् । अतः परं ब्रह्मैवास्मिन्वाक्ये प्रतिपाद्यत इति परमेव ब्रह्म जगत्कारणम् न पुरुषस्तदधिष्ठिता च प्रकृति-रिति स्थितम् ॥ २२ ॥

अनु०—(प्रश्न यह उठता है कि सांख्यमतावलम्बियों के अभिमत जीवों का भेद अथवा अन्य प्रकार का जीव तथा ईश्वर का भेद मैत्रेयी विद्या का अर्थ तो नहीं हो सकता है किन्तु इस विद्या का प्रतिपाद्य जीव और ब्रह्म की एकता रूप एकात्मवाद तो हो ही सकता है । इस मत को मानने पर ही 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' इत्यादि वाक्यों के द्वारा आत्मा की उपासना जगत् के कारणत्व, भेद का निषेध आदि का निषेध करने वाले वाक्यों का समन्वय हो जाता है । तो इस प्रश्न का भी समाधान करते हुए श्रीभाष्यकार कहते हैं) इस मैत्रेयी ब्राह्मण के वाक्यों का अर्थ इस प्रकार का है—मोक्ष के उपाय के मैत्रेयी द्वारा पूछे जाने पर महर्षि याज्ञवल्क्य ने—'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' इस श्रुति द्वारा बतलाया कि परमात्मा की उपासना ही मोक्ष की प्राप्ति का साधन है । उन्होंने—'आत्मनि खल्वरे दृष्टे' अर्थात् साधन सप्तकानुगृहीत मन के द्वारा क्रमशः विशद्–विशदतर विशदतम अन्ततः स्वरूपयाथात्म्येन परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने पर—इत्यादि श्रुति के द्वारा उपास्य परमात्मा का स्वरूप

बतलाया उन्होंने दुन्दुभि आदि के दृष्टान्त के द्वारा उपासना के साधनभूत मन आदि इन्द्रियों का सामान्यरूप से नियमन को बतलाकर 'स यथार्द्रैधाग्नेः' इत्यादि श्रुति के द्वारा–'स यथासर्वासामपां समुद्र एकायनम्' अर्थात् जिस प्रकार समुद्र सभी जलों (नदियों का) एकमात्र आश्रयहै, उसी प्रकार परमात्मा सभी जीवोंका एकमात्र आश्रय होने के कारण उनका कारण है । इत्यादि श्रुति के द्वारा उपास्य परं ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् का एक मात्र कारण है तथा सभी विषयों में होने वाली प्रवृत्तियों का एकमात्र कारण इन्द्रिय समुदाय का नियमन विस्तार पूर्वक बतलाकर,–स यथा सैन्धवघनः' अर्थात् नमक के टुकड़े के सदृश परमात्मा ज्ञान स्वरूप है ।—इत्यादि श्रुति के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति के साधनभूत प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने के लिए जीवात्मा रूप से रहने वाले परमात्मा का सीमातीत ज्ञानवान रूप से आकार का प्रतिपादन करके, उसी केवल असीमित ज्ञान स्वरूप वाले ब्रह्म की ही संसारावस्था में जीवों के रूप में परिणाम को 'विज्ञान घन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति ।' अर्थात् परंब्रह्म ज्ञानस्वरूप ही आत्मा बनकर शरीर रूप में परिणत पञ्चभूतों से उत्पन्न होकर उनके नष्ट होने पर उनके बाद नष्ट हो जाता है । इत्यादि श्रुति के द्वारा बतलाया गया है । 'न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' अर्थात् प्रेत्य=अन्तिम देह पात के पश्चात् मोक्षावस्था में स्वाभाविक अपरिच्छिन्न ज्ञान संकोच रहित होने के कारण, संज्ञा= भूतसंघातों से एकीकार रूप देहादि में आत्माभिमानादि रूप

भ्रमात्मक ज्ञान, नहीं, अस्ति = रहता है। इस श्रुति के द्वारा बतलाया गया है कि मोक्षावस्था में स्वाभाविक सीमातीत ज्ञान का संकोच नहीं होने के कारण भूत समुदाय के साथ एकीकार (अभेद रूप) ज्ञान नहीं होने कारण देव, मनुष्य आदि शरीरों में आत्मत्व बुद्धि नहीं होती है। पुनः—'यत्र हि द्वैतमिव भवति अर्थात् जहां पर भेद के समान प्रतीति होती है इत्यादि श्रुतियों द्वारा ब्रह्मात्मक रूप से नहीं जानने के कारण भिन्न भिन्न स्वतन्त्र रूप से वस्तुओं की प्रतीति अज्ञान के कारण होती है, तथा जिस मुमुक्षु उपासक के सारे अज्ञान नष्ट हो गये हैं, और जो सम्पूर्ण जगत् का ब्रह्मात्मक रूप से अनुभव करने वाले उसके लिए किसी भी वस्तु के ब्रह्म से भिन्न न होने के कारण भेद दर्शन का खण्डन करके, 'येनेदं सर्वं विजानाति, तं केन विजानीयात्' अर्थात् जीवात्मा अपनी आत्मा रूप से रहने वाले जिस परमात्मा के द्वारा ज्ञानवान होकर इस सम्पूर्ण जगत् को जानता है, उस परमात्मा को किस साधन के द्वारा जाना जा सकता है। अर्थात् उसको देखने के लिए कोई साधन नहीं है। इस श्रुति के द्वारा परमात्मा को दुख गम बतलाया गया है। 'स एष नेति नेति' इत्यादि श्रुति के द्वारा बतलाया गया है कि—यह सबों का स्वामी स्वेतर समस्त वस्तुओं से विलक्षण स्वरूप वाला परमात्मा का ही सारा जगत् शरीर है, वह सबों की आत्मा रूप से अवस्थित है। अतएव वह अपने शरीरभूत

सभी जड़ चेतन वस्तुओं में पाये जाने वाले दोषों से अस्पृष्ठ रहता है। 'विज्ञातारमरे: केन विजानीयदित्युक्तानुशासनासि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृत्वम्' अर्थात् हे मैत्रेयि! ध्यान रूपी साधन छोड़ कर किस यज्ञ दान आदि साधन के द्वारा सर्वज्ञ परमात्मा को जाना जा सकता है! अर्थात् किसी के द्वारा भी नहीं। इस से मैं तुहें उपदेश दे चुका हूं। मोक्षार्थियों के लिए जानने के योग्य इतना ही अमृतत्व है। इस श्रुति के द्वारा बतलाया गया है कि—स्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षण, सम्पूर्ण जगत् के एकमात्र कारण (अभिन्न निमितोपादान कारण, सभी वस्तुओं के विज्ञाता परंब्रह्म पुरुषोत्तम को उपर्युक्त प्रकार वाले ध्यान रूप उपासना को छोड़-कर, किस यज्ञ दान आदि साधनों के द्वारा जाना जा सकता है। अर्थात् किसी के द्वारा भी नहीं। यह उपासना ही मोक्ष का साधन है। अमृतत्व शब्द से भी ब्रह्म की प्राप्ति ही कही जाती हैं। यह मैत्रेयी ब्राह्मण में महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा। अतएव इस वाक्य में परंब्रह्म का ही प्रतिपादन किया जाता है। अतएव परंब्रह्म जगत् का कारण है पुरुष नहीं और न तो पुरुषाधिष्ठित प्रकृति ही जगत् का कारण मानी जाती है। यह सिद्ध हुआ।

इस तरह वाक्यान्वयाधिकरण के श्रीभाष्य का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

प्रकृत्यधिकरण का प्रारम्भ

१३२ प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्।१।४।२३॥

मूल—एवं निरीश्वरसाङ्ख्ये निरस्ते सति सेश्वरसाङ्ख्यः प्रत्यवतिष्ठते—यद्यपीक्षणादिगुणयोगात्सर्वज्ञमीश्वरं जगत्कारणत्वेन वेदान्ताः प्रतिपादयन्ति । तथापि वेदान्तैरेव जगदुपादानतया प्रधानमेव प्रतिपाद्यत इति प्रतीयते । नहि वेदान्तास्सर्वज्ञस्यापरिणामिनोऽधिष्ठातुरीश्वरस्याधिष्ठेयेनाचेतनेन परिणामिना प्रधानेन विना जगतः कारणत्वमवगमयन्ति । तथा ह्यपरिणामित्वेनं प्रकृतिं चैतदधिष्ठितां परिणामिनीमधीयते—*निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् *स वा एष महाजन आत्माऽजरोऽमरः *विकारजननीमज्ञामष्टरूपामजां ध्रुवाम् *ध्यायतेऽध्यासिता तेन तन्यते प्रेर्यते पुनः । सूयते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठिता जगत । गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी ॥ इति । तथा प्रकृतिमुपादानभूतामधिष्ठायैवेश्वरो विश्वं जगत्सृजतीति श्रूयते *अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् *मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् इति । स्मृतिरपि *मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिस्सूयते सचराचरम् इति । एवमश्रुतेऽपि प्रधानोपादानत्वे

ब्रह्मणो जगत्कारणत्वश्रुत्यन्यथानुपपत्त्यैव प्रधानस्वरूपं तस्येश्वराधिष्ठितस्य जगदुपादानत्वं च सिद्ध्यति। एवमेव हि लोके निमित्तोपादानयोरत्यन्तभेदो दृश्यते। मृत्सुवर्णादेरचेतनस्य घटकटकाद्युपादानत्वं चेतनस्य कुलालसुवर्णकारादेर्निमित्तत्वं च नित्यमुपलभ्यते। कार्यनिष्पत्तिश्च नियमेनानेककारकसव्यपेक्षा दृष्टा। एवं निमित्तोपादानयोर्भेदनियमं कार्यनिष्पत्तेरनेककारकसव्यपेक्षत्वनियमं चातिक्रम्यैकमेव ब्रह्मोपादानं निमित्तं च प्रतिपादयितुं न प्रभवन्ति वेदान्तवाक्यानि। अतो ब्रह्म निमित्तकारणमेव। नोपादानम्। उपादानं तु तदधिष्ठितं प्रधानमेवेति।

अनु–यदि कोई यह शङ्का करे कि ब्रह्म को जगत् का केवल निमित्त कारण मानकर जगत् का उपादान कारण प्रकृति ही क्यों नहीं मान लिया जाता है क्योंकि लोक में देखा जाता है कि घटादि कार्यों के उपादान कारण मिट्टी से उसका निमित्त कारण कुलालादि भिन्न ही होता है। अतएव जगत् रूपी कार्य का उपादान कारण और निमित्त कारण अलग--अलग ही मानना चाहिये। तो ऐसी बात नहीं है। क्योंकि एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा तथा घटादि के उदाहरण में कोई विरोध

नहीं होने के कारण ब्रह्म को जगत् का निमित्त कारण के साथ ही साथ उपादान कारण भी मान लिया जाता है। यह सूत्र का अर्थ हुआ।

पहले के अधिकरणों में निरीश्वर सांख्यों का खण्डन किया गया है, अब इस अधिकरण में ईश्वर को मानने वाले सांख्यमतावलम्बी अपने तर्कों को उपस्थित करते हुए कहता है—यद्यपि ईक्षण इत्यादि गुणों से युक्त होने के कारण सर्वज्ञ ईश्वर कों सभी वेदान्त वाक्य कारण रूप से बतलाते हैं, फिर भी वेदान्त वाक्यों के ही द्वारा जगत के उपादान कारण रूप से प्रकृति बतलायी जाती है। यह प्रतीत होता है। वेदान्त वाक्य सर्वज्ञ, परिणाम सहित, तथा अधिष्ठाता ईश्वर के कारणत्व का प्रतिपादन अधिष्ठेय अचेतन तथा परिणामी प्रधान के बिना नहीं करते हैं। वह इस तरह से कि—परिणाम रहित ही परमात्मा को तथा प्रकृति को वर्णित करते हुए परमब्रह्माधिष्ठित परिणाम शालिनी प्रकृति का वर्णन करते हुए कहते हैं+परंब्रह्म अवयव रहित, क्रिया रहित- शान्त दोष रहित तथा निरञ्जन है। (श्वे० ६। १८) निश्चय ही परमात्मा को सवों से महान्- जन्मशून्य- जरा तथा मृत्यु रहित है। (बृ०उ० ४।४।२५) देहाभिमानी जीव आठ रूपों वाला प्रकृति महान् अहंकार तथा पञ्चतन्मात्राएँ सब मिलकर(५ + ३ = ८)आठ रूपोंवाली पञ्चज्ञानेन्द्रियां, पञ्चकर्मेन्द्रियां, पञ्चमहाभूत तथा मन(५ + ५ + ५ + १) सब मिलाकर १६ विकारों को उत्पन्न करने वाली, अचेतना, जन्म तथा विनाश रहित प्रकृति का उपभोग करते हैं। उस परमात्मा

से अधिष्ठित प्रकृति परमात्मा के द्वारा ध्यायते = जानीती है, उसी के द्वारा सूक्ष्मावस्था से स्थूलावस्था में की जाती है, उसी के द्वारा प्रेरित की जाती है तथा पुरुषार्थ स्वरूप सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करती है। विकार शील वह प्रकृति आदि तथा अन्त से रहित, समष्टि सृष्टि तथा व्यष्टि सृष्टि की मूलभूता है। यही नहीं श्रुतियां यह भी बतलाती हैं कि सम्पूर्ण जगत् के उपादान कारण प्रकृति को ही अपना अधिष्ठान बनाकर परमात्मा जगत् की सृष्टि करता है। वह श्रुति है—अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्। मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्।' अर्थात् इस प्रकृति रूप अधिष्ठान को ही अधिष्ठित करके परमात्मा इस सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करता है। माया को प्रकृति जानो और माया के प्रेरक तत्त्व को महेश्वर (परमात्मा)। स्मृति भी बतलाती है कि 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' (गी० ९।१०) अर्थात् मुझ परमात्मा के ही द्वारा अधिष्ठित होकर प्रकृति जड़चेतनात्मक जगत् की सृष्टि करता है।

इस तरह से यद्यपि श्रुतियां प्रकृति को उपादान कारण रूप से नहीं बतलाती हैं, किन्तु अन्यथानुपपत्ति के द्वारा ही ईश्वराधिष्ठित प्रधान की जगत् की उपादान कारणता सिद्ध हो जाती है। इस तरह ही लोक में निमित्त कारण तथा उपादान कारण में अत्यन्त भेद देखा जाता है। देखा जाता है कि घट-कटक कुण्डल आदि कार्यों के मिट्टी, सुवर्ण आदि जड़ पदार्थ उपा

दान कारण होते हैं। और निश्चित रूप से ही उन सवों (घट, कटक कुण्डल आदि कार्यों के चेतन, कुलाल, सुवर्णकार आदि निमित्त कारण देखे जाते हैं । इस तरह से देखा जाता है कि कार्य की उत्पत्ति में अनेक कारणों की आवश्यकता होती है। इस तरह से लोक में पाये जाने वाले, निमित्त कारण और उपादान कारण की भिन्नता के नियम का तथा कार्य की उत्पत्ति के लिए अनेक कारकों की अपेक्षा रूपी नियम का उलंघन करके वेदान्त वाक्य इस अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं जगत् रूपी कार्य उपादान कारण और निमित्त कारण एक ही हो सकता है उपादान कारण नहीं हो सकता हैं जगत् का उपादान कारण तो परमात्मा से अधिष्ठित (नियमित) प्रकृति ही है । (अतएव ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमितोपादन कारण नहीं माना जा सकता है।)

टिप्पणी–सांख्यों के भेद दो प्रकार के हैं निरीश्वर सांख्य और सेश्वर सांख्य । निरीश्वरसांख्य के प्रवर्तक ईश्वर कृष्ण हैं। इन्होंने सांख्य कारिका नामक ब्रहत्तर आर्या छन्दों की कारिकाओं में सांख्य शास्त्र को वर्णित कर इस छोटे से ग्रन्थ में गागर में सागर भरने का सफल प्रयास किया है। ईश्वरकृष्ण ने सांख्यशास्त्र में अव्यक्त = प्रकृति, व्यक्त = महदादि तथा ज्ञ = पुरुष तत्त्व के ज्ञान से जीवों की मुक्ति माना है । उनके महदादि के आपस में तेइस भेद हैं । इस तरह एक प्रकृति + तेइस महदादि + एक पुरुष =

पच्चीस तत्त्वों के विज्ञान (भेद पूर्वक ज्ञान या प्रकृति पुरुष विवेक) के द्वारा मोक्षाधिगम को बतलाया। ईश्वर कृष्ण का कहना है कि इस प्रक्रिया के प्रवर्तक कपिल ही हैं। और उन्हीं की परंपरा में षष्ठिवर्ष नामक विद्वान ने विशाल काय ग्रन्थ षष्ठि-तन्त्र का निर्माण किया। किन्तु दुर्दैव से आज वह ग्रन्थ नहीं मिलता है। ईश्वरकृष्ण ने अपने इस साँख्यकारिका नामक ग्रन्थ में षष्ठितन्त्र के सभी विषयों को समाहित कर डाला है। यह सांख्य कारिका भी अत्यन्त प्राचीन है। इसकी कारिकाओं का खण्डन ब्रह्मसूत्र में शांकरभाष्य और श्रीभाष्य आदि ग्रन्थ में मिलता है। अभीतक के अधिकरण में इस ईश्वर कृष्ण द्वारा ही प्रवर्तित निरीश्वर सांख्य का ही खण्डन किया गया है। अब इस प्रकृत्यधिकरण में सेश्वरसांख्य का खण्डन किया जा रहा है। इसके भी आदि प्रवर्तक कर्दम ऋषि के पुत्र कपिल माने जाते जाते है। श्रीमद्भागवत पुराण में कर्दम ऋषि के पुत्र कपिल ने अपनी माता देवहूति को विस्तार पूर्वक सेश्वरसांख्य का उपदेश दिया है। और इनके अनुसार छब्बीस तत्त्वों का भेदपूर्वक ज्ञान ही मोक्ष का साधन है। इससिद्धान्तमेंप्रकृतिक चौविस तत्त्वों की अपेक्षा जीव तथा ईश्वर भी स्वीकार किया गया, इस मत में तथा औपनि-षद सिद्धान्त में विषमता की अपेक्षा समता अधिक है, इस सिद्धान्त में सभी प्राकृतिक तत्त्व तथा जीव ब्रह्मात्मक ही स्वीकार किये जाते हैं। किन्तु जगत् का निमित्त कारण परमात्मा को और उपादान करण परमात्मा से अधिष्ठित प्रकृतिको स्वीकार किया जाता है,

जब कि वेदान्त के सिद्धान्त में परंब्रह्म को ही जगत का उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों माना जाता है। इसी लिए इस सूत्र में सेश्वरसांख्य मत का खण्डन किया जा रहा है।

मूल—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादिति। प्रकृतिश्च—उपादानं च। न निमित्तकारणमात्रं ब्रह्म, उपादानकारणं चब्रह्मैवेत्यर्थः। कुतः? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। एवमेव हि प्रतिज्ञादृष्टान्तौ नोपरुध्येते। प्रतिज्ञा तावत् *उत तमादेशमप्राक्ष्यः येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमित्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानविषया। दृष्टान्तश्च *यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् *यथा सोम्यैकेन लोहमणिना *यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन इति कारणविज्ञानात्कार्यविज्ञानविषयः। यदि निमित्तकारणमेव जगतो ब्रह्म, तदा तद्विज्ञानान्न समस्तं जगद्विज्ञातं स्यात्। नहि कुलालादिविज्ञानेन घटादिर्विज्ञायते। अतः प्रतिज्ञादृष्टान्तयोर्बाध एव। ब्रह्मण एवोपादानत्वे उपादानभूतमृत्पिण्डलोहमणिनखनिकृन्तनविज्ञाने घटमणिककटकमकुटवासीपरश्वथादितत्कार्यविज्ञानवन्निखिलजगदुपादानभूते

ब्रह्मणि विज्ञाते तत्कार्यं निखिलं जगद्विज्ञातं स्यात् । कारणमेवावस्थान्तरापन्नं कार्यम्, न द्रव्यान्तरमिति कार्यंकारणरूपेणावस्थितमृत्तद्विकारादिनिदर्शनेन प्रतिज्ञासमर्थनाद्ब्रह्म जगदुपादानं चेति निश्चीयते । यत्तु निमित्तोपादानयोर्भेदश्श्रुत्यैव प्रतीयत इति, तदसत्, निमित्तोपादानयोरैक्यप्रतीतेः उतः तमादेशमप्राक्ष्यः येनाश्रुतं श्रुतं भवतीति । आदिश्यते प्रशिष्यतेऽनेनेत्यादेशः, *एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि इत्यादिश्रुतेः । साधकतमत्वेन कर्ता विवक्षितः । तमादेष्टारमप्राक्ष्यः, येनाश्रुतं श्रुतं भवति—येनादेष्ट्राऽधिष्ठात्रा श्रुतेनाश्रुतमपि श्रुतं भवतीति निमित्तोपादानयोरैक्यं प्रतीयते, *सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवेति प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणादद्वितीयपदेनाधिष्ठात्रन्तरनिवारणाच्च । नन्वेवं सति *विकारजननीम् *गौरनाद्यन्तवती इत्यादिभिःप्रकृतेराद्यन्तविरहेण नित्यत्वं जगदुपादानत्वं च श्रूयमाणं कथमुपपद्यते ? तदुच्यते—तत्राप्यविभक्तनामरूपं कारणावस्थं ब्रह्मैव प्रकृतिशब्देनाभिधीयते, ब्रह्मव्यतिरिक्त-

स्यन्तराभावात् । तथाहि श्रुतयः *सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनस्सर्वं वेद *यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् इत्याद्याः, सर्वं खल्विदं ब्रह्म *ऐतदात्म्यमिदं सर्वमिति कार्यावस्थ कारणावस्थं च सर्वं जगद्ब्रह्मात्मकमिति श्रवणाच्च ।

अनु०—उपर्युक्त प्रकार का पूर्वपक्ष उपस्थित होने पर सूत्रकार कहते हैं-प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात् । इस सूत्र के प्रकृतिश्च का अर्थ है, उपादान कारण भी, अर्थात् ब्रह्म जगत् का केवल निमित्त कारण ही नहीं है अपितु उसका उपादान कारण भी ही ब्रह्म है । क्योंकि-प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् । क्योंकि ब्रह्म को जगत् का समान रूप से उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों मानने पर ही छान्दोग्योपनिषद् के आत्मविद्या में वर्णित प्रतिज्ञा और दृष्टान्त में किसी प्रकार के विरोध नहीं होते हैं । वह प्रतिज्ञा इस प्रकार की है-'स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः येनाश्रुतं श्रुतंभवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम् ।' अर्थात् बारह वर्षों के पश्चात् गुरुकुल से लौटे हुए तथा अपने को आत्मतत्त्ववेत्ता मानने के कारण अपने पूज्य पिताजी को नमस्कार नहीं करके चुपचाप खड़े पुत्र को देखकर पिताजीने कहा, हे श्वेतकेतो ! तुम अपने को आत्मतत्त्व वेत्ता मानकर किसी को भी विना नमस्कारादि किये विना, स्तब्ध = चुपचाप खड़े हो । क्या तुमने अपने आचार्यों

के सन्निकट में प्रश्नोत्तरादि द्वारा उस आदेश (जगत के नियामक) तत्त्व को जान लिया है ? जिसके केवल सुन लेने से सभी वस्तुएँ सुनी हुई, जिसके केवल मनन कर लेने से, तद्व्यतिरिक्त सभी वस्तुएँ मनन की गयी तथा जिसके केवल विज्ञात हो जाने से सभी वस्तुएँ विज्ञात हो जाती हैं ? इस श्रुति में एक विज्ञान सभी वस्तुओं के विज्ञान की प्रतिज्ञा की गयी है। और इस प्रतिज्ञा के उपपादन (औचित्य प्रतिपादन) के लिए कारण के ज्ञान से कार्य के ज्ञान विषयक तीन दृष्टान्त दिये गये हैं–जैसे यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् + ······यथासोम्यैकेन लोहमणिना··· ······यथा सोम्यैकेन नखकृन्तनेन' अर्थात् हे सोमरसपानार्ह श्वेतकेतो! जैसे केवल मृत्पिण्ड के विज्ञान से सारी मिट्टी से बनी हुई घटादि वस्तुएँ जो मिट्टी के पिण्ड से बनी हैं, उनका मृदात्मकत्वेन ज्ञान हो जाता है, जिस तरह हे सोमरस पानार्ह श्वेतकेतो ! एक लोह मणि के द्वारा, ······ (॥।) तथा जिसतरह हे सोमरसपानार्ह श्वेतकेतो ! एक नखकृन्तन (नहरनी) के द्वारा। (इन तीनों उदाहरणों द्वारा यह बतलाया गया है कि कारणत्त्व का ज्ञान हो जाने पर उससे उत्पन्न सभी वस्तुओं का तद्द्रव्यात्मकत्वेन ज्ञान हो ही जाता है।

यदि ब्रह्म को जगत् का निमित्त कारण मात्र ही माना जाय तो फिर उसके विज्ञान मात्र से सम्पूर्ण जगत् का विज्ञान संभव नहीं है। घटादि कार्यों के निमित्त कारण कुम्भकार

आदि के ज्ञान मात्र सेघट इत्यादि का ज्ञान लोक में नहीं देखा जाता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म को केवल निमित्त कारण मानने पर प्रतिज्ञा और दृष्टान्त में बाधा (या विरोध) ही होगा। ब्रह्म को ही उपादान कारण भी मानने पर जिसतरह उपादान कारण भूत मृत्पिण्ड के विज्ञान से उसके कार्यभुत घट मणिक (कुण्डा) आदि का लोहमणि (सुवर्ण) के विज्ञान से उसके कार्यभूत कटक कुण्डल आदि का, नखकृन्तन के विज्ञान से सभी लोहे के बने हुए औजार वसूली परश्वथ, आदि का ज्ञान होता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् के उपादान कारणभूत परंब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर उसके कार्यभूत सम्पूर्ण जगत् का ब्रह्मात्मक रूप से ज्ञान हो जाता है। क्योंकि जो पहले की अवस्था में कारण रहता है, वही अपनी उत्तरावस्था में कार्य कहलाता है। अतएव कार्य और कारण में द्रव्य की एकता होती है, भिन्नता नहीं। दोनों के द्रव्य एक होते हैं। कार्य और कारण दोनों रूपों में रहने वाली मिट्टी तथा उसके कार्यों के उदाहरण से चूंकि एक विज्ञान के द्वारा सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा का श्रुति के द्वारा समर्थन किया गया है, अतएव निश्चित होता है कि जगत् का उपादान कारण भी ब्रह्म ही है। सांख्य विद्वानों ने यह जो कहा है कि श्रुति ही जगत् के निमित्त कारण और उपादान कारण की भिन्नता का प्रतिपादन करती है, यह प्रतीत होता है। तो उनका यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि श्रुति के द्वारा जगत् के निमित्त और उपादान कारण की एकता की प्रतीति होती है। 'उत तमादेशमप्राक्ष्यः

येनाश्रुतं श्रुतंभवति' यह श्रुति जगत् के निमित्त और उपादान की एकता को ही बतलाती है, भिन्नता को नहीं। आदेश पद का 'आदिश्यते = प्रशिष्यते अनेन इति आदेशः' अर्थात् जिसके द्वारा जगत् का प्रशासन किया जाय उसे आदेश कहते हैं। परमात्मा को जगत् का प्रशासन कर्ता के रूप में प्रतिपादन करती हुई बृहदारण्यकोपनिषद् की श्रुति कहती है- 'एतस्यवाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि (बृ० ५।८) अर्थात् हे गार्गि इस परमात्मा के ही प्रशासन में रहकर सूर्य आदि नियमित होते रहते हैं। यहां पर साधकतम (करण) के रूप में कर्ता विवक्षित है। (कहने का आशय यह है कि आदेश पद में आङ् पूर्वक दिश धातु से कर्ता के अर्थ घञ् प्रत्यय होकर आदेश पद बना है। और इस पद की व्युत्पत्ति होती है-आदिश्यते अनेन इत्यादेशः। अब प्रश्न यहां यह उपस्थित होता है कि— 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इस प्राणिनीयानुशासन के अनुसार कर्तृव्यतिरिक्त कारक में ही संज्ञा अर्थ में घञ् प्रत्यय होता है, कर्ता के अर्थ में नहीं। अतएव यहां पर कर्ता के अर्थ में घञ् प्रत्यय कैसे स्वीकार किया जा सकता है? तो इस शङ्का का समाधान करते हुए श्रीभाष्यकार स्वामीजी कहते हैं कि— साधकतमत्वेन कर्ता विवक्षिता' अर्थात् यहां पर ज्ञान क्रिया के कर्तृत्व में स्वतन्त्र रूप से विवक्षित न होकर साधकतम रूप से कर्ता को मानकर ही घञ् प्रत्यय किया गया है। क्योंकि नियम है 'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति'। अतएव कोई दोष नहीं है।)

इस तरह श्रुति का अर्थ हुआ कि तुमने उस आदेष्टा = जगत् प्रशासक तत्त्व को अपने आचार्यों की सन्निधि में पूछकर जान-लिया है क्या ? जिसके केवल श्रवण मात्र से सभी वस्तुओं का श्रवण किया हुआ हो जाता है। अर्थात् जिस आदेष्टा = अधिष्ठाता परमात्मा के द्वारा वेसुनी हुई वस्तुएँ भी सुनी हुई हो जाती है। इस तरह इस श्रुति के द्वारा उपादान कारण और निमित्त कारण की एकता ही प्रतीत होती है। 'सदेव सोम्येदमग्र असीदेकमेव अर्थात् हे सोमरस पानार्ह, सच्छिष्य। सृष्टि से पहले यह दृश्यमाण सम्पूर्ण प्रपञ्च सत् स्वरूप ही था। इस श्रुति के द्वारा सृष्टि से पूर्व एकत्व का निश्चय होने के कारण तथा अद्वितीय पद के द्वारा जगत् के ब्रह्मव्यक्तिरिक्त अधिष्ठाता (निमित्त कारण) के निषेध किये जाने के कारण भी ब्रह्म की जगत् के प्रति अभिन्न निमितो-पादन कारणता की सिद्धि होती है।

यहां पर प्रश्न यह उठता है कि यदि वेदान्त वाक्यों के द्वारा ब्रह्म भी जगत् के अभिन्ननिमितकारणता का प्रतिपादन मान लेने पर, विकारजननीम् = सम्पूर्णकार्यों को उत्पादन करने वाली, गौर-नानन्तवतीम् = उत्पत्तिविनाश रहित उत्तरोतर कार्यावस्था में परि-णत होते रहने वाली, इत्यादि वाक्यों के द्वारा प्रकृति के उत्पत्ति विनाश रहित होने के कारण जो प्रकृति का नित्यत्व, तथा जगत् के उपादान कारणत्व मान्त्रिकोपनिषत् में सुना जाता है, उनसबों की उपपत्ति कैसे लगेगी ? तो इसका उत्तर देते हुए श्रीभाष्यकार श्रीरामानुजाचार्य स्वामीजी कहते हैं—तदुच्यते

इत्यादि-अर्थात् मन्त्रिकोपनिषत् के (१+३ तथा १।५) श्रुति में भी नामरूपविभागरहित कारणावस्थावस्थित ब्रह्म ही प्रकृतिशब्द के द्वारा अभिहित की जाती है। क्योंकि उस समय (प्रलयकाल में) ब्रह्म को छोड़कर कोई अन्य प्रकार की वस्तु तो रहती नहीं है। इसी अर्थ का समर्थन करती हुई श्रुतियां भी कहती हैं—'सर्वं तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' अर्थात् उस व्यक्ति को सभी वस्तुएँ परास्त कर देती हैं। जो परमात्मातमव्यतिरिक्तरूपसे सभी वस्तुओं को जानता है। 'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्।' और जिसके ध्यान मात्र से उपासक को यह सारा जगत् परमात्मात्मक ही प्रतीत होने लगता है, उस परमात्मा को ध्यानव्यतिरिक्त किस साधन के द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है।' इत्यादि श्रुतियां तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् निश्चय ही यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक है। तथा-ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक है।' इत्यादि श्रुतियों में सुना जाता है कि कारणावस्था तथा कार्यावस्था में स्थित रहने वाला सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक ही है।

मूल—एतदुक्तं भवति—*यः पृथीवीमन्तरे सञ्चरन्यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेद इत्यारभ्य *योऽव्यक्तमन्तरे सञ्चरन्यस्याव्यक्तं शरीरं यमव्यक्तं न वेद योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन्यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद *यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं

पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति इत्यारभ्य *य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः इति (च) सर्वचिदचिद्वस्तुशरीरतया सर्वदा सर्वात्मभूत' परं ब्रह्म कदाचिद्विभक्तनामरूपम्; कदाचिच्चाविभक्तनामरूपम्, यदा विभक्तनामरूपम् तदा तदेव बहुत्वेन कार्यत्वेन चोच्यते; यदा चाविभक्तनामरूपं तदैकमद्वितीयं कारणमिति च । एवं सर्वदा चिदचिद्वस्तुशरीरस्य परस्य ब्रह्मणोऽविभक्तनामरूपा या कारणावस्था सा *गौरनाद्यन्तवती *विकारजननीमज्ञाम् *अजामेकाम् इत्यादिभिरभिधीयते इति । ननु च *महानव्यक्ते लीयते अव्यक्तमक्षरे लीयते इति प्रलयश्रुतेरव्यक्तस्योत्पत्तिप्रलयौ प्रतीयेते, तथा च महाभारते *तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम *अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्क्रिये सम्प्रलीयते इति । नैष दोषः, अचिद्वस्तुशरीरस्य ब्रह्मणोऽव्यक्तशब्दवाच्यायास्त्रिगुणावस्थायाः कार्यत्वात् । *यदा तमस्तत्र

दिवा न रात्रिः इति कृत्स्नप्रलयदशायामपि ब्रह्मात्मक-
स्यातिसूक्ष्मस्याचिद्वस्तुनः स्थित्यभिधानाज्जगत्कारणस्य
परस्य ब्रह्मणः प्रकारभूतमतिसूक्ष्मं चाचिद्वस्तु नित्य-
मेवेति तत्प्रकारं ब्रह्मैव *गौरनाद्यन्तवतीत्यादिष्व-
भिधीयते । अत एव च *अक्षरं तमसि लीयते तमः
परे देव एकी भवतीति तमस एकीभावमात्रमेव
श्रूयते, न तु लयः । एकीभाव इति तमोभिधानाद
तिसूक्ष्माचित्प्रकारस्य ब्रह्मणोऽविभक्तनामरूपतयाऽ-
वस्थानमभिधीयते । *तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतं
तमसस्तन्महिनाजायतैकम् इत्याद्यप्येतदेव वदति ;
तथा च मानवं वचः *आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञात-
मलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः
॥ इति । *अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् इत्याद्यन-
न्तरमेवोपपादयिष्यते, ब्रह्मणोऽपरिणामित्वश्रुतयश्च ।
यत्त्वेकस्य निमित्तत्वमुपादानत्वं च न संभवति,
एककारकनिष्पाद्यत्वं च कार्यस्य; लोके तथा निय-
मदर्शनात् । अतोऽभिन्ना सिञ्चोदितवद्वेदान्तवाक्या;
न्येकस्मादेवोत्पत्तिं प्रतिपादयितुं न प्रभवन्तीति ।

अत्रोच्यते—सकलेतरविलक्षणस्य ब्रह्मणस्सर्वज्ञस्यैकस्यैव सर्वमुपपद्यते । मृदादेरचेतनस्य ज्ञानाभावेनाधिष्ठातृत्वायोगादधिष्ठातुः कुलालादेर्विचित्रपरिणामशक्तिविरहादसत्यसङ्कल्पतया च तथा दर्शनंनियमः । अतो ब्रह्मैव जगतो निमित्तमुपादानं च । ॥ २३ ॥

अनु०—कहने का अभिप्राय यह है कि–'यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् यस्य पृथ्वी शरीरम्, यं पृथिवी न वेद' अर्थात् जो पृथिवी के भीतर संचरण करता हुआ अवस्थित है, पृथिवी जिसका शरीर है, और पृथिवी जिस परमात्मा को अपनी अन्तरात्मा रूप से नहीं जानती है। (सु० उ० ख० ६) इस श्रुति से आरम्भ करके 'योऽव्यक्तमन्तरे सञ्चरन् यस्याव्यक्तं शरीरम् यमव्यक्तं न वेद योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यस्याक्षरं शरीरम् यमक्षरं न वेद ।' अर्थात् जो परमात्मा अव्यक्त प्रकृति के भीतर संचरण करता हुआ उसके अन्तर्यामी रूप से अवस्थित है, अव्यक्त प्रकृति जिसका शरीर है, जिस अव्यक्त के अपनी आत्मा रूप से नहीं जानती, तथा जो अक्षरतत्त्व जीवात्मा के भीतर संचरण करता हुआ अन्तर्यामी रूप से अवस्थित है, अक्षर तत्व जीवात्मा जिसका शरीर है, जिसे अक्षर तत्त्व जीवात्मा अपनी आत्मा रूप से नहीं जानता है । इत्यादि सुबालोपनिषद् षष्ठ अध्याय की श्रुति पर्यन्त तथा वृहदारण्यकोपनिषद् के अन्तर्यामी ब्राह्मण की श्रुति–'यः पृथिव्यां तिष्ठन्, यः पृथि-

व्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरम्, यः पृथिवी-मन्तरो यमयति' (बृ० उ० ३।७।३) अर्थात् जो परंब्रह्म पृथिवी के भीतर आत्मा के रूप से रहता हुआ, पृथिवी की अपेक्षा अंतरङ्ग है। जिसे पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, और जो पृथिवी के भीतर रहकर उसका नियमन करता है। इस श्रुति से लेकर-'इस ब्राह्मण की अन्तिम श्रुति 'जो परमात्मा आत्मा के भीतर अन्तर्यामी रूप से रहता हुआ आत्मा की अपेक्षा अन्तरंग है। उसे आत्मा नहीं जान पाती। आत्मा जिसका शरीर है। जो परमात्मा आत्मा के भीतर रहकर उसका नियमन किया करता है! इस श्रुति पर्यन्त वतलाया गया है कि सम्पूर्ण जड़ चेतनात्मक शरीर रूप से सर्वदा ब्रह्म रहता है। वह सभी (कार्यावस्था में) विभक्त नाम रूप वाला होता है और कभी नाम रूप के विभाग से रहित होता है। जिस समय वह नाम रूप के विभाग से रहित होता है उस समय वही वहुत रूप से (व्यष्टि रूप से) तथा कार्य रूप से श्रुति के द्वारा अभिहित किया जाता है, और जिस समय उसके नाम और रूप का विभाग नहीं हुआ रहता है, उस समय वह श्रुति के द्वारा एक अद्वितीय और कारण रूप से वतलाया जाता है। इस तरह सर्वदा ही जिस परंब्रह्म का जड़ चेतन वस्तु समुदाय शरीर बना रहता है, उस ब्रह्म की जो कारणावस्था है, उसका श्रुति गौर-नाद्यन्तवती + उत्पति विनाश रहित होकर भी उतरोत्तर कार्यावस्था को प्राप्त होने वाली, विकारजननीमज्ञाम् जड़ा तथा महदादि

सोलह विकारों को उत्पन्न करने वाली, अजामेकाम् – जन्मशून्य तथा अकेली, इत्यादि पदों से अभिधान करती है।

अब प्रश्न उठता है कि–'महानव्यक्ते लीयते, अव्यक्तमक्षरे लीयते' अर्थात् महत्तत्व का अव्यक्त में लय होता है और अव्यक्त-तत्त्व का अक्षर तत्त्व में लय होता है। इस प्रलय श्रुति के द्वारा अव्यक्त की उत्पत्ति और प्रलय होते हैं यह प्रतीत होता है। महाभारत में भी कहा गया है कि 'हे द्विजसत्तम' (ब्राह्मणों में श्रेष्ठ) उस अक्षर तत्त्व परमात्मा से अव्यक्त तत्त्व उत्पन्न हुआ। और 'हे ब्रह्मन् निष्क्रिय पुरुष में अव्यक्त तत्त्व का लय होता है। तो इसमें कोई दोष नहीं है। जिसका अचिद्वस्तु शरीर है, उस ब्रह्म का, अव्यक्त शब्द वाच्य प्रकृति की त्रिगुणावस्था कार्य है। क्योंकि 'यदा तमः तन्न दिवा न रात्रिः।' जिस समय प्रलय काल में केवल तमस्मात्र ही था, उस समय न दिन था और न रात थी' इस श्रुति में सम्पूर्ण जगत् के प्रलय दशा में भी जिसकी आत्मा ब्रह्म है, वह अत्यन्त सूक्ष्म जड़ा प्रकृति की सत्ता बतलाये जाने के कारण सिद्ध होता है कि जगत् के कारण भूत परब्रह्म का प्रकारभूत अत्यन्त सूक्ष्म प्रकृति नित्य ही वस्तु हैं। इस लिए प्रकृति विशिष्ट ब्रह्म ही 'गौरनाद्यन्तवती' इत्यादि श्रुति में वर्णित किया गया है। इसीलिए 'अक्षरं तमसि लीयते, तमः परे देव एकीभवति' अर्थात् अक्षर तत्त्व का तमस् में लय होता है और तमस् परब्रह्म परमात्मा में मिल जाता।' इस श्रुति में तमस् का एकीभाव सुना जाता है लय नहीं। एकीभाव पद के

द्वारा बतलाया जाता है कि प्रलय काल में तमस् नामक अत्यन्त सूक्ष्म जो प्रकृति उससे विशिष्ट ब्रह्म नामरूप विभाग रहित रूप से अवस्थित रहता है। इसी अर्थ को निम्न श्रुति भी बतलाती हुई कहती-तम असीत् तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्। ततस्तन्नहिनाऽजायतैकम्' (य० ब्रा० २।८।९) अर्थात् सृष्टि से पूर्वप्रलयकाल में यह सारा जगत् तमस् स्वरूप था और सम्पूर्ण जगत् तमसाच्छन्न था। प्रलयकाल में यह तमसे मिलकर एकमात्र हो गया इसी अर्थ को बतलाते हुए मनु भी कहते हैं—

आसीदिदं तमोभुतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

अर्थात् सृष्टि से पूर्व प्रलयकाल में यह सम्पूर्ण जगत् तमोऽवस्थित अप्रज्ञातम् = परोक्षापरोक्ष किसी भी प्रकार के ज्ञान का विषय नहीं बन सकता था। अलक्षणम् = रूपादि रहित होने के कारण किसी प्रकार के वर्ण से युक्त नहीं था। अप्रतर्क्यम् = तर्क का विषय नहीं था। अविज्ञेयम् = विभागपूर्वक जिसे नहीं जाना जा सकता है। और सम्पूर्ण जगत् का लय होने के कारण वह नाम रूप विभाग रहित था। इस वाक्य में यह बतलाया गया है कि जगत् का तमस् में लय होता है। और अभी आगे चलकर प्रतिपादित करेंगे कि 'अस्मात् मायी सृजते विश्वमेतत्' इत्यादि श्रुतियां ब्रह्म के ही जगत् के रूप में परिणाम का प्रतिपादन करती हैं।

सांख्यों ने यह जो कहा है कि लोक में देखा जाता है

कि किसी भी कार्य का निमितकारण और उपादान कारण एक नहीं होता है, अतएव कोई भी कार्य एक कारक निष्पाद्य नहीं होता है, फलतः परमात्मा को किस तरह से जगत का उपादान कारण और निमितकारण दोनों माना जा सकता है, और जगत् को किस तरह ब्रह्ममात्र से जन्य माना जा सकता है ? अतः एव लोक में जैसा देखा जाता है उसके अनुसार वेदान्त वाक्य 'अग्नि से सीचना चाहिए' इत्यादि विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक अर्थ के समान एक ही अभिन्न निमितोपादान रूप ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति का प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं, तो इसका उतर है कि परम ब्रह्म स्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षण, सर्वज्ञ एवं सर्व शक्तिमान हैं, अतएव कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ होने के कारण उनका सबकुछ होना संभव है। घटादि के उपादानभूत मृदादि अचेतन हैं अतएव वे घटादि कार्यों के अधिष्ठाता नहीं हो सकते हैं। और घटादि कार्यों के अधिष्ठाता कुलाल आदि में इस बात की शक्ति नहीं कि वे स्वयं कार्य रूप में परिणत हो जायँ, किन्च वह असत् संकल्प भी हैं। अतएव घटादि कार्यों के उपादान कारण तथा निमित कारण दोनों अलग अलग हैं। (पृथक्-पृथक् दोनों कारणों से घटादि कार्य उत्पन्न होते हैं। किन्तु ब्रह्म के साथ तो ऐसी बात नहीं है। वह स्वयंविचित्र जगत् रूपी कार्य के रूप में परिणत होने में भी समर्थ है और चेतन होने के साथ साथ सत्यसंकल्प भी है। अतएव अपने सत्यसंकल्प के द्वारा वह जगत् के रूप में परिणत होता है) अतएव ब्रह्म ही जगत्

का एक मात्र अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है।

सूत्र—१३३ अभिध्योपदेशाच्च १।४।२४॥

इतश्चोभयं ब्रह्मैव, *सोऽकामयत बहु स्याँ प्रजायेयेति *तदैक्षत बहु स्याँ प्रजायेय इति स्रष्टुर्ब्रह्मणस्स्वस्यैव बहुभवनसङ्कल्पोपदेशात्। विचित्रचिदचिद्रूपेणाहमेव बहु स्यां तथा प्रजायेयेति सङ्कल्पपूर्विका हि सृष्टि रुपदिश्यते ॥ २४ ॥

अनु०—इसलिए भी ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तो-पादान कारण माना जाता है कि श्रुतियां ब्रह्म के सत्य संकल्प पूर्वक सृष्टि का उपदेश देती हैं। यह सूत्र का अर्थ हुआ।

इसलिए भी ब्रह्म को ही जगत् का दोनों प्रकार का कारण मानन पड़ता है कि 'उस परंब्रह्म ने सत्य संकल्प किया कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ" उत ब्रह्म ने ईक्षण किया कि मैं समष्टि सृष्टि से व्यष्टि सृष्टि में आऊँ इस तरह सृष्टि करने वाले ब्रह्म की अपने ही अनेक बन जाने का उपदेश देती हैं। अद्भुत जड़चेतन रूप से मैं ही हो जाऊँ तदर्थं अनेक रूपों में परिणत होऊँ, इस प्रकार के संकल्प पुरस्सर ही सृष्टि का उपदेश श्रुतियां करती हैं। (अतएव ब्रह्म ही जगतका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है।)

१३४ साक्षाच्चोभयाम्नानात् १।४।२५॥

मूल—न केवलं प्रतिज्ञादृष्टान्ताभिध्योपदेशादिभिरयमर्थो निश्चीयते, ब्रह्मण एव निमित्तत्वमुपादानत्व च साक्षादाम्नायते "किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष असीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा पृच्छतेदुतद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्। ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष असीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यातिष्ठद्भुवनानि धारयन्॥ इति। अत्र हि स्रष्टुर्ब्रह्मणः किमुपादानं कानि चोपकरणानीति लोकदृष्ट्या पृष्टे सकलेतर विलक्षणस्य ब्रह्मणः सर्वशक्तियोगो न विरुद्ध इति ब्रह्मैवोपादानमुपकरणानि चेति परिहृतम्। अतश्चोभयं ब्रह्म॥ २५॥

अनु०—केवल एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा एवं दृष्टान्त मात्र से ही नहीं ब्रह्म को जगत् का उभयविध कारण माना जाता है। बल्कि इसलिए भी माना जाता है कि श्रुतियां भी स्पष्ट रूप से ब्रह्म को जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानती हैं। यह सूत्र का अर्थ हुआ।

केवल एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की, प्रतिज्ञा, मृत्तिका लोह आदि के उदाहरण तथा एक से स्वयं अनेक बनजाने

के लिए ब्रह्म के सत्य संकल्प आदि हेतुओं के द्वारा ही ब्रह्म को जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण नहीं माना जाता है। अपितु श्रुतियां ब्रह्म को जगत् के उपादान और निमित्त रूप से साक्षात् प्रतिपादन करती है। वह श्रुति है—

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष असीद् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनिषिणो मनसा पृच्छतेदुतद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥
ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष असीद् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥

अर्थात् वह कौन सा वन है जिसमें वृक्ष होते हैं? अर्थात् वह अधिकरण तत्त्व कौन है? जिसमें उपादान इत्यादि स्थित हैं। वह वृक्ष कौन हैं जिससे स्तम्भ इत्यादि निर्मित होते है। अर्थात् वह उपादान कारण कौन है, जिससे द्यावापृथिवी इत्यादि कार्य पदार्थों का निर्माण हुआ है? मनीषिगण! मनोयोग से पूछें वह उपकरण इत्यादि कौन हैं जिसे भुवनों का धारण करने वाले परमात्मा ने अधिष्ठित किया है? यह प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रुति कहती है—ब्रह्म ही वह वन (अधिकरण तत्त्व है। ब्रह्म ही वह वृक्ष (उपादान तत्त्व) है, जिससे द्यावा पृथिवी का निर्माण हुआ है। हे मनीषिगण! मनोयोग से मैं आप लोगों को बतलाता हूं, कि वह उपकरण इत्यादि भी ब्रह्म ही है, जिसे भुवनों का धारण करने वाले परमात्मा ने अधिष्ठित किया है। इस श्रुति में स्रष्टा ब्रह्म किस उपादान कारण तथा किन उपकरणों से जगत् की सृष्टि करता है! इस तरह से लोक दृष्टि

से पूछे जाने पर, चूंकि स्वेतर समस्त वस्तु विलक्षण ब्रह्म में सभी प्रकार की शक्तियों का योग पाया जाता है अतएव उपादान और उपकरण आदि भी ब्रह्म है यह कहा गया है। अतएव ब्रह्म के उभयविध कारण होने में जो विरोध था, उसका परिहार करके सिद्ध किया गया है कि दोनों प्रकार का कारण ब्रह्म ही है।

१३५, आत्मकृतेः ।१।४।२६।।

*सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति सिसृक्षुत्वेन प्रकृतस्य ब्रह्मणः *तदात्मानं स्वयमकुरुतेति सृष्टेः कर्मत्व च प्रतीयत इत्यात्मन एव बहुत्वकरणात्तस्यैव निमित्तत्वमुपादानत्वं च प्रतीयते। अविभक्तनामरूप आत्मा कर्त्ता: स एव विभक्तनामरूपः कार्यमिति कर्तृत्वकर्ममंत्वयोर्न विरोधः। स्वयमेवात्मानं तथाऽकुरुतेति निमित्तमुपादानं च ॥ २६ ॥

अनु०–चूंकि 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' यह श्रुति बतलाती है कि ब्रह्म स्वयं कार्य रूप में परिणत हो गया, इससे भी पता चलता है कि जगत् का उभयविध कारण ब्रह्म ही है। यह सूत्र का अर्थ है, 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय।' (तै० आन० ६।२) अर्थात् उस ब्रह्म ने सत्य संकल्प रूप कामना किया कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ।' इस श्रुति में जिस ब्रह्म को सृष्टि करने के इच्छुक रूप से बतलाया गया है; उसी ब्रह्म की 'तदात्मानं

स्वयमकुरुत' अर्थात् वही ब्रह्म स्वयं जगत् के रूप में परिणत हो गया। इस श्रुति में जगत् के कर्ता और कर्म रूप से बतलाया गया है। श्रुति का 'तत्' शब्द उसको कर्ता रूप से तथा 'आत्मानं स्वयम्' पद उसे कर्म रूप से बतलाता है। इस तरह ब्रह्म के द्वारा अपने को ही अनेक रूपों में बना दिये जाने के कारण पता चलता है कि ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों है। अब प्रश्न यह उठता है कि अकेला ही ब्रह्म जगत् का कर्ता तथा कर्म दोनों कैसे हो सकता है? तो इसका उत्तर है कि नामरूप विभागानर्ह ब्रह्म जगत् का कर्ता है और वही नामरूप विभागार्ह होकर जगत् का कार्य है। अतएव ब्रह्म के जगत् के कर्ता और कर्म होने में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। चूंकि ब्रह्म ने स्वयं अपने को ही जगत् के रूप में परिणत कर लिया, अतएव वह जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों है।

*सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म *आनन्दो ब्रह्म *अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजघत्सोऽपिपासः। *निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् *स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरः इति स्वभावतो निरस्त-समस्तचेतनाचेतनवर्तिदोषगन्धस्य निरतिशयज्ञानानन्दैकतानस्य परस्य ब्रह्मणो विचित्रानन्तापुरुषार्थास्पद-

चिदचिन्मिश्रप्रपञ्चरूपेणात्मनो बहुभवनसङ्कल्पपूर्वकं बहुत्वकरणं कथमुपपद्यत इत्याशङ्क्याह--

१३६ परिणामात् । १ । ४ । २७ ॥

परिणामस्वाभाव्यात्, नात्रोपदिश्यमानस्य परिणामस्य परस्मिन्ब्रह्मणि दोषावहत्वं स्वाभावः, प्रत्युत निरङ्कुशैश्वर्यावहत्यमेवेत्यभिप्रायः एवमेव हि परिणाम उपदिश्यते । अशेषहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानं स्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणं सर्वज्ञं सत्यसङ्कल्पमवाप्तसमस्तकाममनवधिकातिशयानन्दं स्वलीलोपकारणभूतसमस्तचिदचिद्वस्तुजातशरीरतया तदात्मभूतं परं ब्रह्म स्वशरीरभूते प्रपञ्चे तन्मात्राहङ्कारादिकारणपरम्परया तमशशब्दवाच्यातिसूक्ष्माचिद्वस्त्वेकशेषे सति, तमसि च स्वशरीरतयाऽपि पृथङ् निर्देशानर्हातिसूक्ष्मदशापत्त्या स्वस्मिन्नेकतामापन्ने सति, तथाभूततमश्शरीरं ब्रह्म पूर्ववद्विभक्तनामरूपचिदचिन्मिश्रप्रपञ्चशरीरं स्यामिति सङ्कल्प्याप्ययक्रमेण जगच्छरीरतया आत्मनं परिणमयतीति सर्वेषु वेदान्तेषु परिणामोपदेशः ।

अनु ॰ 'सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म' (तै॰ आ॰ १ । १) अर्थात्

ब्रह्म सत्य स्वरूप ज्ञानस्वरूप एवं अपरिच्छिन्न स्वरूप है' 'आनन्दो-ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म आनन्द स्वरूप है। 'अपहत पाप्माविजरो विमृत्युरविशोकोविजघत्सोऽपिपासः' (छ० उ० ८।७।१) अर्थात् वह दहरामा शब्द वाच्य ब्रह्म कर्मपारतन्त्र्य रहित तथा जरा, मृत्यु, शोक, भूख एवं प्यास (रूपी षड्र्मि) रहित है। ब्रह्म अवयव रहित, क्रिया रहित, शान्त, दोषरहित एवं निरञ्जन है (श्वे० ६।१९) निश्चय ही शून्य महान् आत्मा अजर अमर है। इत्यादि श्रुतियां बतलाती हैं कि ब्रह्म स्वभावतः जीवों में पाये जाने वाले सभी दोषों से रहित है, ज्ञान और आनन्द का तो केवल वह ब्रह्म ही एकमात्र आश्रय है। ऐसे परं ब्रह्म के आश्चर्यकारी सीमातीत, अनुरुपार्थ युक्त जड़ चेतनात्मक प्रपञ्च रूप से स्वयं अपने को ही अनेक रूप से होने के कारण सत्य संकल्प पुरस्सर अनेक रूप में परिणत होना रूप कार्य की उपपत्ति कैसे संभव है? इस प्रकार की शंका का समाधान करते हुए स्वयं सूत्रकार वादरायण कहते हैं कि-पारिणामात् ॥ १।४।२७॥

अर्थात् 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत' इत्यादि श्रुति में परिणाम वाद ही चूंकि वर्णित है, अतएव ब्रह्म का जगत् के रूप में परिणाम मानने में कोई दोष नहीं है। यह सूत्र का अर्थ हुआ।

सूत्र के परिणामात् पद का अर्थ है कि ब्रह्म का जगत् के रूप में परिणत होने का स्वभाव श्रुतियां बतलाती हैं। यहाँ पर जो ब्रह्म का परिणाम बतलाया गया है, उसका अभिप्राय ब्रह्म

में दोष देना नहीं है। बल्कि उसके द्वारा ब्रह्म के बिना किसी रोक टोक के अपने मनोनुकूल ऐश्वर्य को धारण करने का स्वभाव ही सिद्ध होता है। इस तरह के ही परिणाम का उपदेश श्रुतियाँ करती हैं। परब्रह्म सभी प्राकृतिक त्याज्य दोषों से रहित, तथा सम्पूर्ण कल्याण करने वाले गुणों का एकमात्र आश्रय है। अतएव वह स्वेतर समस्त वस्तुविलक्षण स्वभाव वाला है। वह सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प वाला, तथा अवाप्तसमस्तकाम है। वह सीमातीत सर्वोत्कृष्ट आनन्द स्वरूप है। वह अपनी लीला के साधनभूत सम्पूर्ण जगत् के जड़ चेतन वस्तुओं के शरीर होने से उन सबों की आत्मा है। वह अपने शरीरभूत प्रपञ्च की तन्मात्राएँ अहंकार, आदि कारण परम्परा से केवल तमः शब्द वाच्य अत्यन्त सूक्ष्म जड़ वस्तु प्रकृति के ही बचे रहने पर तमस् के परब्रह्म के शरीर रूप से भी अलग निर्देश नहीं किये जाने के योग्य अत्यन्त सूक्ष्म दशापन्न हो जाने के कारण अपने से अभिन्न रूप हो जाने पर जो ब्रह्म का स्वरूप होता है, उसी प्रकार से युक्त ब्रह्म प्रलय काल के बीत जाने पर यह संकल्प करता है कि पूर्व कल्प में जिस तरह से मेरा यह नाम रूप विभागार्ह चेतना चेतनात्मक शरीर भूत जगत् था उसी प्रकार के शरीर से युक्त हो जाऊँ। इस तरह का संकल्प करके जिस क्रम से लय होता है, उसी क्रम से जगत् के शरीर रूप से अपने को परिणत करता है। इस तरह से सभी वेदान्तों में परिणाम वाद का ही उपदेश किया गया है।

तथैव बृहदारण्यके कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मशरीरत्वं

ब्रह्मणस्तदात्मत्व चाम्नायते *यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः इत्यारभ्य *यस्यापश्शरीरम् *यस्याग्निश्शरीरम् यस्यान्तरिक्षं शरीरं *यस्यवायुश्शरीरम् *यस्य द्यौश्शरीरम् *यस्य चन्द्रतारकं शरीरम् *यस्याकाशश्शरीरम् *यस्य तमश्शरीरम् *यस्य तेजश्शरीरम् *यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम् *यस्य प्राणश्शरीरम् *यस्य वाक्छरीरम् *यस्य चक्षुश्शरीरम् *यस्य श्रोत्रं शरीरम् *यस्य मनश्शरीरम् *यस्य त्वक्छरीरम् *यस्य विज्ञानं शरीरम् *यस्य रेतश्शरीरम् इत्येवमन्तेन काण्वपाठे, माध्यन्दिने तु पाठे विज्ञानस्थाने *यस्यात्मा शरीरमिति विशेषः, लोकयज्ञवेदानां परमात्मशरीरत्वमधिकम् ।

अनु०-इसी तरह वृहदारण्यकोपनिषद् में, सम्पूर्ण जगत् को परमात्मा का शरीर, और ब्रह्म को सम्पूर्ण जगत् की आत्मा बतलाया गया है । 'जो पृथिवी के भीतर रहता हुआ पृथिवी की अपेक्षा अंतरंग है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, जो परमात्मा पृथिवी के भीतर रहकर उसका नियमन किया

करता है। वही अन्तर्यामी अमृततत्त्व परमात्मा तुम्हारी भी आत्मा है। अन्तर्यामी ब्राह्मण के इस श्रुति से प्रारम्भ करके-'जिसका जल शरीर है' अग्नि जिसका शरीर है, अन्तरिक्ष जिसका शरीर हैं, वायु जिसका शरीर है, द्युलोक जिसका शरीर है, आदित्य जिसका शरीर है, दिशाएँ जिसका शरीरहैं, चन्द्रमा और तारे जिसका शरीर है, आकाश जिसका शरीर है, जिसका तमस् शरीर है। तेज जिसका शरीर है। सभीभूत जिसके शरीर हैं। प्राण जिसका शरीर है। वाणी जिसका शरीर है। नेत्र जिसके शरीर हैं। श्रोत्र जिसके शरीर हैं। मन जिसका शरीर है, त्वचा जिसका शरीर है, विज्ञान जिसका शरीर है, रेतस् जिसका शरीर है, यहां तक के काण्वपाठ में जगत् को परमात्मा का शरीर तथा ब्रह्म को उसकी आत्मा बतलाया गया है। किन्तु माध्यन्दिन पाठ में विज्ञान के स्थान पर 'जिसका आत्मा शरीर है,' यह विशेष पाठ है। और इसके अतिरिक्त लोक यज्ञ तथा वेद को परमात्मा का शरीर अधिक बतलाया गया है।

सुबालोपनिषदि च पृथिव्यादीनां तत्त्वानां परमात्मशरीरत्वमभिधाय वाजसनेयकेऽनुक्तानामपि तत्त्वानां शरीरत्वं ब्रह्मण आत्मत्वं च श्रूयते *यस्य बुद्धिश्शरीरम् *यस्याहङ्कारश्शरीरम् *यस्य चित्तं शरीरम् *यस्याव्यक्तं शरीरम् *यस्याक्षरं शरीरम् *यो

मृत्युमन्तरे सञ्चरन्यस्य मृत्युश्शरीरम् यं मृत्युर्न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः इति । अत्र मृत्युशब्देन परमसूक्ष्ममचिद्वस्तु तमश्शब्दवाच्यमभिधीयते, *अव्यक्तमक्षरे लीयते अक्षरं तमसि लीयते इति तस्यामेवोपनिषदि क्रमप्रत्यभिज्ञानात् । सर्वेषामात्मनां ज्ञानावरणार्थमूलत्वेन तदेव हि तमो मृत्युशब्दव्यपदेश्यम् । सुबालोपनिषद्येव ब्रह्म शरीरतया तदात्मकानां तत्त्वानां ब्रह्मण्येव प्रलय आम्नायते *पृथिव्यप्सु प्रलीयते आपस्तेजसि लीयन्ते तेजो वायौ लीयते वायुराकाशे लीयते आकाशमिन्द्रियेष्विन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणि भूतादौ लीयन्ते भूतादिर्महति लीयते महानव्यक्ते लीयते अव्यक्तमक्षरे लीयते अक्षरं तमसि लीयते तमः परे देव एकी भवति *इति । अविभागापन्नदशायामपि किञ्चिद्वस्तुवतिसूक्ष्मं सकर्मसंस्कारं तिष्ठतीत्युत्तरत्र वक्ष्यते *न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते चेति ।

अनु०—और सुबालोपनिषद् में पृथिवी आदि तत्त्वों को

परमात्मा का शरीर बतलाकर जिन तत्त्वों को वाजसनेयक संहिता में नहीं भी कहा गया है उनको भी परमात्मा का शरीर बतलाकर उनकी आत्मा रूप से परंब्रह्म को बतलाते हुए कहा गया है कि—'जिस परंब्रह्म का बुद्धि शरीर है, जिसका अहंकार शरीर है, जिसका चित्त शरीर है, जिसका अव्यक्त शरीर है, जिसका अक्षर शरीर है, जो परमात्मा मृत्यु शब्द वाच्य प्रकृति के भीतर संचरण करता हुआ, जिसका मृत्यु शरीर है, जिसको मृत्यु नहीं जानती, यह सभी भूतों की अन्तरात्मा अकर्मवश्य दिव्य कल्याणगुण सागर एक नारायण ही हैं। इस श्रुति में मृत्यु शब्द के द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म प्रकृति को कहा गया है जिसे पहले तमस् शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है। 'अव्यक्त तत्त्व प्रकृति का अक्षर तत्त्व में लय होता है और अक्षर तत्त्व का तमस् (प्रकृति) में लय होता है, इस श्रुति के द्वारा सुबालोपनिषद् में ही लय का क्रम प्रतीत होता है। सभी आत्माओं के ज्ञान को आवृत करने का कार्य रूप अनर्थ का मूल जो तमस् (अज्ञान या अन्धकार या अविद्या) वही मृत्यु शब्द वाच्य है।

सुबालोपनिषद् में ही ब्रह्म का शरीर होने के कारण जो ब्रह्मात्मक तत्त्व हैं उनका ब्रह्म में ही प्रलय बतलाती हुई श्रुति कहती है–पृथिवी का जलों में लय होता है, जल तेज में लीन है, तेज का वायु में लय होता है, वायु आकाश में लीन होता है, आकाश तत्त्व का इन्द्रियों में लय होता है; इन्द्रियां तन्मात्राओं

में लीन होती हैं, महान् अव्यक्त में लीन होता है और तमस् (सूक्ष्म प्रकृति) परब्रह्म में लीन हो जाती है' नामरूप विभागानर्हे सूक्ष्मावस्था में आने के समय में भी अत्यन्त सूक्ष्म जीवतत्त्व एवं प्रकृति तत्त्व भी अपने कर्म और संस्कार के साथ प्रलयावस्था में भी बनी रहती है। इस बात को आगे के सूत्र न कर्मन विभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च (२।१।३५) में बतलाया जायेगा।

एवं स्वस्माद्विभागव्यपदेशानर्हतया परमात्मनैकीभूतात्यन्तसूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरादेकस्मादेवाद्वितीयान्निरतिशयानन्दात्सर्वज्ञात्सत्यसङ्कल्पाद्ब्रह्मणो नामरूपविभागार्हस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरतया बहुभवनसङ्कल्पपूर्वको जगदाकारेण परिणामश्श्रूयते। *सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म *तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्, अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः *एष ह्येवानन्दयाति *सोऽकामयत; बहुस्यां प्रजायेयेति; स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत, यदिदं किञ्च, तत्सृष्ट्वा, तदेवानुप्राविशत्, तदनुप्रविश्य, सच्च त्यच्चाभवत्, निरुक्तं चानिरुक्तं च, निलयनं चानिलयनं च, विज्ञानं चाविज्ञानं च; सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् इति। अत्र

तमश्शब्देन प्राचीनजगदाकारपर्यालोचनरूपं ज्ञानम भिधीयते; *यस्य ज्ञानमयं तपः इत्यादिश्रुतेः। प्राक्सृष्टं जगत्संस्थानमालोच्येदानीमपि तत्संस्थानं जगदसृजदित्यर्थः। तथैव हि ब्रह्म सर्वेषु कल्पेष्वेक-रूपमेव जगत्सृजति *सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्व-मकल्पयत, दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो सुवः *यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये। दृश्यन्ते तानितान्येव तथो भावा युगादिषु ॥ इति श्रुति-स्मृतिभ्यः।

अनु०—इस तरह से महाप्रलय में जिसका आपस में न तो विभाग हो सकता है और न तो उनके नाम और रूप का पृथक्-पृथक् व्यपदेश (अभिधान) ही किया जा सकता है ऐसी सूक्ष्मावस्था में रहने वाली प्रकृति परमात्मा से एकी भूत हो जाने के कारण, अत्यन्त सूक्ष्म जड़ चेतन शरीर वाला अकेले (एकमात्र) अतएव सम्पूर्ण जगत् के उपादान कारण स्वरूप, अद्वितीय, आनन्द स्वरूप सर्वज्ञ सत्यसंकल्प ब्रह्म का ही नाम रूप विभागार्ह स्थूल जड़ चेतन वस्तु शरीरक होनेसे अनेके होने के संकल्प पूर्वक जगत् के रूप में परिणाम श्रुतियों में सुना जाता है। परमात्मा का इस तरह से परिणाम का प्रतिपादन निम्न श्रुतियां करती है—

'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म सत्य स्वरूप ज्ञानस्वरूप

और सीमातीत है। तस्माद् वा० इत्यादि—अर्थात् उस प्रसिद्ध विज्ञान मय (विज्ञान प्रचुर जीवात्मा) से भिन्न उसकी अन्तरात्मा रूप से विद्यमान रहने वाला परमात्मा आनन्दमय है। एष ह्ये० यही सबों को अपने आनन्द सागर का एक अंश प्रदान कर आनन्दवान् बनाता है! 'सोऽकामयत इत्यादि–अर्थात् उस सूक्ष्मावस्थावस्थित जड़ चेतन शरीरक सत् शब्द वाच्य परमात्मा ने सत्यसंकल्प किया कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ तदर्थं अनेक रूपों में उत्पन्न होऊँ। उसने सत्य संकल्प रूपी तपस्या की और उस तपस्या को करके यह जो कुछ भी प्रपञ्च है, उसकी सृष्टि की, उसकी सृष्टि करके परमात्मा स्वयं उनके अन्तर्यामी रूप से उनके भीतर प्रवेश कर गया, और उनके भीतर प्रवेश करके स्वयं चेतन शरीरक और जड़ शरीरक हो गया। जो कुछ भी निरुक्त और अनिरुक्त है, इस श्रुति में तपः शब्द के द्वारा पूर्व कल्प में जगत् का जो आकार था उस आकार का पर्यालोचन रूपज्ञान कहा गया है। क्योंकि श्रुति भी बतलाती है—जिस परं ब्रह्म की तपस्या ज्ञानस्वरूप है। पहले कल्प में जिसकी सृष्टि की गयी है ऐसे जगत् के संस्थानों की पर्यालोचना करके (चिन्तन पूर्वक स्मरण करके) इस कल्प (वर्तमान कल्प) में भी पूर्व कल्प के संस्थानों वाले जगत् की सृष्टि परमात्मा ने की। इस प्रकार से ब्रह्म सभी कल्पों में जगत् की सृष्टि समानरूप से करता है। इस अर्थ का प्रतिपादन निम्न वाक्य करतेहैं–

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।

दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो सुवः ।

अर्थात् परमात्मा ने पूर्वकल्प के ही अनुसार सूर्य और चाँद की सृष्टि किया। तथा उसने द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्लोक की भी पूर्वकल्प के ही अनुसार सृष्टि की। इसी तरह निम्न वाक्य भी कहता है–

यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नाना रूपाणि पर्यये ।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथाभावा युगादिषु ।।

तदयमर्थः–स्वयमपरिच्छिन्नज्ञानानन्दस्वभावोऽत्यन्तसूक्ष्मतयाऽसत्कल्पस्वलीलोपकरणचिदचिद्वस्तुशरीरतया तन्मयः परमात्मा विचित्रानन्तक्रीडनकोपादित्सया स्वशरीरभूतप्रकृतिपुरुषसमष्टिपरम्परया महाभूतपर्यन्तमात्मानं तत्तच्छरीरकं परिणमय्य तन्मयः पुनस्तस्त्यच्छब्दवाच्यविचित्रचिदचिन्मिश्रदेवादिस्थावरान्तजगद्रूपोऽभवदिति। ※तदेवानुप्राविशत्, तदनुप्रविश्येति कारणावस्थायामात्मतयाऽवस्थितः परमात्मैव कार्यरूपेण विक्रियमाणद्रव्यस्याप्यात्मतयाऽवस्थाय तत्तदभवदित्युच्यते। एवं परमात्मचिदचित्सङ्घातरूपजगदाकारपरिणामे परमात्मशरीरभूतचिदंशगतास्सर्वा एवापुरुषार्थाः, तथाभूताचिदंशगताश्च सर्वे विकाराः, परमा

त्मनि कार्यत्वं तदवस्थयोस्तयोर्नियन्तृत्वेनात्मत्वम्, परमात्मा तु तयोस्स्वशरीरभूतयोर्नियन्तृतयाऽऽत्मभूत- स्तद्गतापुरुषार्थैर्विकारैश्च न स्पृश्यते; अपरिच्छिन्न- ज्ञानानन्दमयस्सर्वदैकरूप एव जगत्परिवर्तनलीलयाऽ- वतिष्ठते । तदेतदाह *सत्यं चानृतं च सत्यमभवदिति विचित्रचिदचिद्रूपेण विक्रियमाणमपि ब्रह्म सत्यमेवा- भवत—निरस्तनिखिलदोषगन्धमपरिच्छिन्नज्ञानानन्दमे- करूपमेवाभवदित्यर्थः ।

अनु०—कहने का अभिप्राय है कि जिस परमात्मा का स्व- भाव है कि वह सीमातीत और ज्ञान आनन्द का आश्रय है। अत्य- न्त सूक्ष्म होने के कारण जो असत् कल्प हैं, ऐसे अपने लीला के साधनभूत जो जड़-चेतन वस्तु हैं, वही जिस परमात्मा के शरीर हैं अतएव ज्ञानानन्द प्रचुर परमात्मा अपने विचित्र तथा अनन्त क्रीड़ा के साधनों को स्वीकार करने की इच्छा से अपने शरीरभूत प्रकृति और पुरुष की समष्टि की जो (महदादि कर्म की जो परम्परा है, उस परम्परा के अनुसार प्रकृति से लेकर महा- भूत पर्यन्त अपने को तत् तत् वस्तु शरीरक रूप से परिणत करके, फिर उनके भीतर प्रवेश करके परमात्मा सत् और त्यत् शब्द से कहे जाने वाले अद्भुत चेतन और जड़ से मिश्रित देव शरीर से लेकर स्थावर शरीर पर्यन्त जगत् में पाये जाने वाले

जितने भी रूप हैं, उन सभी रूपों में परिणत हो गया यह उपयुंक्त अनुच्छेद में बतलायी गयी सोऽकामयत इत्यादि श्रुति का अभिप्राय है।

'तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य' इत्यादि श्रुति का अभिप्राय है कि कारणावस्था में जो परमात्मा आत्मा रूप से अवस्थित था वही परमात्मा कार्य रूप से भी विकृत होने वाले द्रव्य की भी आत्मा रूप से विद्यमान् रहकर तत्तदाकारों में परिणत होगया। यह श्रुतियां बतलाती हैं। इस प्रकार परमात्मा का जड़चेतन रूप से परिणाम स्वीकार करने पर, परमात्मा के शरीरभूत जीवों के जितने अपुरुषार्थ हैं वे सभी, तथा जड़ प्राकृत वस्तुओं में जितने विकार होते हैं। वे सभी परमात्मा के कार्य होंगे तथा, चेतनाचेतन दोनों प्रकार की वस्तुओं का नियामक होने के कारण परमात्मा उनकी आत्मा है। (अब प्रश्न यह उठता है कि तो फिर चेतना चेतनों में होने वाले जितने अपुरुषार्थ रूप तथा विकार रूप दोष हैं उन सबों के आश्रय भी परमात्मा ही होंगे। तो इसका उत्तर देते हुए श्रीभाष्यकार कहते हैं कि परमात्मा तो जीव और प्रकृति के नियामक होने के कारण उन दोनों की आत्मा हैं और उनका अपने शरीरभुत चेतना चेतनों से उसी प्रकार सम्बन्ध नहीं होता है जिस प्रकार आत्मा का शरोर में होने वाले दोषों में स वन्व नहीं होता है। अतएव वे सदा सीमातीत ज्ञानानन्द स्वरूप होने के कारण सदा एक रूप रहते हैं। और अपने लीला रस की पूर्ति के लिए जगत् के होने

वाले परिवर्तनों का अधिष्ठाता बनकर रहते हैं। इसी अर्थ को बतलाती हुई श्रुति कहती है। 'सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्' सृष्टि काल में विचित्र रूप से स्थूल चेतनाचेतन रूप से परिणत होकर भी परमात्मा सत्य ही रहा। अर्थात् उसका जो सदा एक सा बने रहने वाला परमात्मा का सभी प्राकृत दोषों से रहित रूप अखिल हेय प्रत्यनीकता है, तथा सदा सीमातीत ज्ञानानन्द स्वरूपता है, वह ज्यों के त्यों बना रहा उसमें, कोई भी रंचमात्र भी अन्तर नहीं आया। यही उक्त श्रुति का अभिप्राय है।

सर्वाणि चिदचिद्वस्तूनि सूक्ष्मदशापन्नानि स्थूलदशापन्नानि च परस्य ब्रह्मणो लीलोपकरणानि; सृष्टयादयश्च लीलेति भगवद्द्वैपायनपराशरादिभिरुक्तम् अव्यक्तादिविशेषान्तं परिणामर्द्धिसंयुतम्। क्रीडा हरेरिदं सर्वं क्षरमित्युपधार्यताम्॥ क्रीडतो बालकस्येव चेष्टां तस्य निशामय बालः क्रीडनकैरिव इत्यादिभिः। वक्ष्यति च लोकवत्तु लीलाकैवल्यमिति अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः इति ब्रह्मणि जगद्रूपतया विक्रियमाणेऽपि तत्प्रकारभूतचिदंशगतास्सर्वे विकारास्तत्प्रकारभूतक्षेत्रज्ञगताश्चापुरुषार्था इति विवेक्तुं प्रकृतिपुरुषयोर्ब्रह्मशरीरभूतयोरुक्तनामरूपयोर्नो तथा निर्देशानर्हातिसूक्ष्मदशापत्त्या

ब्रह्मणैकोभूतयोरपि भेदेन व्यपदेशः, *तदात्मानं स्वयमकुरुतेत्यादिभिरैकार्थ्यात् । तथाच मानव वचः *सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः । अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमपासृजत् ॥ इति ॥ अत एव ब्रह्मणो निर्दोषत्वनिर्विकारत्वञ्च तयश्चोपपन्नाः । अतो ब्रह्मैव जगतो निमित्तमुपादानञ्च ॥ २७ ॥

अनु०-यही नहीं, भगवान् द्वैपायन (व्यास) तथा विष्णु-पुराणकार महर्षि पराशर भी कहते हैं कि नामरूप विभागानर्ह-सूक्ष्मावस्था में रहने वाली, तथा नाम रूप विभागार्ह स्थूलावस्था में रहने वाली जितनी जड़ चेतन वस्तुएँ हैं, वे परंब्रह्म की लीला के साधन हैं, और जगत् की सृष्टि आदि (पालन और संहार) परमात्मा की लीला हैं।

अव्यक्तादि इत्यादि सूक्ति बतलाती है कि प्रकृति से लेकर विशेष महाभूत तथा पाञ्चभौतिक पर्यन्त वस्तुएँ जिनके परिणाम तथा वृद्धि आदि होते हैं, ये सभी वस्तुएँ क्षरशब्द वाच्य हैं, और सभी परमात्मा की क्रीड़ा रूप है। 'क्रीडतो बालकस्येव चेष्टातस्य निशामय ।' अर्थात् जिस तरह कोई खेलता हुआ बालक अपने लीलारस की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार की क्रीड़ाएं करता है, उसी तरह परमात्मा इस जगत् की सृष्टि पालन और संहारादि का कार्य अपनी लीलारस की पूर्ति के लिए करता है।

जिस तरह कोई बालक क्रीडा करता हुआ क्रीड़ा के साधनों से अपना मनोविनोद करता है, उसी तरह परमात्मा भी इन जगदादि की सृष्टि आदि के द्वारा मनीविनोद करता है। इस अर्थ को स्वयं सूत्रकार भी आगे चलकर लोक वस्तु लीला के वल्यम्' (२।१।३३) इस सूत्र में करेंगे। 'अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः।' अर्थात् परमात्मा ने अपनी माया के द्वारा जगत् की सृष्टि करता है, और दूसरा जीवात्मा माया के वन्धन में बँध जाता है। इस श्रुति में बतलायेंगे कि ब्रह्म के जगत् के रूप में परिणत हो जाने पर उस ब्रह्म के विशेषणीभूत अचेतन में होने वाले सभी विकारों और ब्रह्म के प्रकार भूत जीवों के सभी अपुरुषार्थों का विवेक (भेद) के लिए, प्रलय काल में भी परमात्मा के शरीर रूप से रहने वाले जो नाम रूप विभागानर्हं सूक्ष्मावस्थावस्थित, तथा ब्रह्मकाराकारित अपने शरीरभूत प्रकृति तथा पुरुष को ब्रह्म नें सृष्ट्युन्मुख होकर नामरूप विभागार्हं बनाया। यह इस लिए मानना पड़ता है कि 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' अर्थात् परमात्मा ने अपने को ही जगत् के रूप में परिणत कर दिया।' इस श्रुति से उपर्युक्त अर्थ की एकता हो जाती है। इसी तरह मनुस्मृतिकार भी कहते हैं:—

'सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुः विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमप सृजत् ॥"

अर्थात् सूक्ष्म चिदचिद् वस्तुशरीरक परमात्मा ने सृष्टिकाल में अपने सत्य संकल्प रूप ध्यान करके अपने द्वारा शरीर–

भूत सूक्ष्म चेतना चेतनों के द्वारा अनेक प्रकार की प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से सर्व प्रथम जल की सृष्टि की और फिर उसमें वीज डाला।' इस तरह ब्रह्म को निर्दोष एवं निर्विकार वतलाने वाली सभी श्रुतियों का समन्वय हो जाता है। इसलिए ब्रह्म ही जगत् का उपादान-कारण और निमित्त कारण दोनों है।

१३७ योनिश्च हि गीयते ।१।४।२८।।

मूलः—इतश्च जगतो निमित्तमुपादानञ्च ब्रह्म, यस्माद्योनित्वेनाप्यभिधीयते *कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् इति, *यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः इति च। योनिशब्दश्चोपादानवचन इति *यथोर्णनाभिस्सृजते गृह्णते चेति वाक्यशेषादवगम्यते ॥ २८ ॥

अनु०—सूत्र का 'हि' शब्द कारण का वाचक है। इस तरह सूत्र का अर्थ हुआ कि चूंकि ब्रह्म को श्रुतियाँ योनि = उपादान कारण रूप से गाती-(बतलाती) हैं। अतएव भी ब्रह्म जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों ही हैं।

इसलिए भी ब्रह्म जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों है, कि श्रुतियाँ उसे (ब्रह्म को) जगत् का योनि (उपादान कारण बतलाती हैं) 'कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।' अर्थात् ब्रह्म (प्रकृति) के योनि (उपादन कारण) भूत तथा जगत् के कर्ता (निमित्त कारण) सम्पूर्ण जगत् के नियामक तथा

ऐश्वर्य सम्पन्न पुरुष का साधक पुरुष उपासना के द्वारा साक्षात्कार करता है। तथा 'यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।' अर्थात् साधक जिस परंब्रह्म का सभी भूतों की योनिरूप से साक्षात्कार करता है। इन श्रुतियों में आया हुआ योनि शब्द उपादान कारण का वाचक हैं। इस अर्थ का ज्ञान 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' अर्थात् जिस तरह कोई मकड़ी स्वयं अपने शरीर से जाला को को उत्पन्न करके उसको निगल जाती हैं, उसी तरह परमात्मा अपनी इच्छा के अनुसार जगत की सृष्टि करके प्रलय काल में ही उपसंहृत कर लेता हैं।'—इस वाक्यशेष श्रुति के द्वारा होता हैं।

इस तरह श्रीभाष्य के प्रकृत्यधिकरण का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

सर्व व्याख्यानाधिकरण का प्रारम्भ

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः।१।४।२९

मूल— एतेन-पादचतुष्टयोक्तन्यायकलापेन, सर्ववेदान्तेषु जगत्कारणप्रतिपादनपरास्सर्वे वाक्यविशेषाश्चेतनविलक्षणसर्वशक्तिब्रह्मप्रतिपादनपरा व्याख्याताः। व्याख्याता इति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिद्योतनार्थः।.२९॥

अनु०— इस प्रथम अध्याय के चारो पादों में वर्णित न्यायसमुदाय के द्वारा सभी शाखाओं में पढ़े गये कारण परक वाक्यों की ब्रह्म परक रूप से व्याख्या की गयी है। यह सूत्र का अर्थ हुआ।

एतेन– प्रथम अध्याय के चारो पादों में वर्णित जगत के न्याय समूह के द्वारा, सभी वेदान्तों में पढ़े गये कारणका प्रतिपादन करने वाले सभी वाक्य विशेषों की जड़ एवं चेतन से विलक्षण सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान ब्रह्म का ही जगत् के कारण रूप से प्रतिपादकता की व्याख्या की गयी हैं। व्याख्याता पदकी दो बार आवृत्तिसे इस अध्याय की परिसमाप्ति की सूचना दी गयी है।

टिप्पणी– सर्वेवाक्यविशेषाश्चेतनाचेतन विलक्षणसर्वज्ञ सर्वशक्तिब्रह्म प्रतिपादयन्ति

प्रथम अध्याय के चारो पादों में विषयवाक्य रूप में जो वाक्य आये हैं वे परब्रह्म का जगत् के कारण रूप में प्रतिपादन करते हैं। परब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादन रूप से प्रतिपादन करते हुए वे बतलाते हैं कि परब्रह्म स्वेतर समस्त वस्तु विलक्षण होने के कारण चेतन एवं अचेतन सभी प्रकार की वस्तुओं से विसद्दश हैं। परब्रह्म को चेतन एवं अचेतन सभी वस्तुओं से विलक्षण बतलाने के लिये उक्त वाक्य में परब्रह्म के दो असाधारण गुण बतलाये गये हैं। (१) परब्रह्म सर्वज्ञ हैं। परब्रह्म को छोड़कर कोई भी ऐसा चेतन नहीं हैं जो सर्वज्ञ हो। अपने इस गुण के कारण परब्रह्म अपनेसे भिन्न सभी चेतनों से भिन्न सिद्ध होते हैं। यहां पर यह नहीं कहा जा सकता हैं कि मुक्तावस्था में आविर्भूत गुणाष्टक हो जानेपर जो जीव सर्वज्ञ हो जाते होंगे। क्योंकि उस समय में यदि मुक्तात्मा सर्वज्ञ हो भी जायँ तो उनकी सर्वज्ञता भी पर

मात्मा के सत्य-संकल्प के अधीन होती है। स्वतंत्र रूप से सर्वज्ञ तो परमात्मा ही हैं। दूस ा जो परमात्मा का असाधारण गुण इस वाक्य में बतलाया गया है वह यह है कि परमात्मा सर्व शक्तिमान हैं। परमात्मा को छोड़कर कोई भी दूसरा सर्वश क्तिमान नही हो सकता है। प-मात्मा के इन दोनो गुणों को कण्ठतः कीर्तन करती हुई श्रुति भी कहती है–यः सर्वज्ञः सर्ववित् "परा-स्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते" परमात्मा के ये दोनों गुण ऐसे हैं कि इन्हीं दोनों गुणों के कारण वह जगत् का अभिन्ननिमित्तो पादन कारण सिद्ध होता है। क्योंकि संसार में देखा जाता है कि कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो किसी कार्य विशेष के प्रति स्वयमेव उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों हों। क्योंकि उपादान कारण वही वस्तु होती है जो कार्य के रूप में परिणत होती है। उपादीयत इति उपादानम्। अर्थात् जिस वस्तु में इस प्रकार की योग्यता हों कि वह स्वयं अवस्थान्तर को धारण कर सके उसे उपादान कारण कहते हैं। जैसे मृत्-पिण्ड अपनी पिण्डत्वावस्था को छोड़कर घटत्वावस्था में परिणित हो जाने के लिए योग्य है। अतएव वह घटका उपादान कारण है। इस तरह वही वस्तु किसी कार्य विशेष का उपादान कारण हो सकती है जो जड़ हो। और निमित्तकारण के लिए चेतन का होना अनिवार्य है जिस तरह घटका निमित्तकारण चे कुम्भकार ही हो सकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि पर-मात्मा तो चेतन है। अतएव वह जगत् का निमित्त कारण

आसानी से माना जा सकता है। किन्तु वह जगत् का उपादान कारण कैसे हो सकता है! इसका उत्तर देते हुए भगवती श्रुति का कहना है कि परमात्मा सर्वशक्तिमान है। उसमें हर प्रकार की शक्ति है उसमें यह भी शक्ति है कि वह जगत् के रूप में स्वयं परिणित हो जाय। इस अर्थ का समर्थन छान्दोग्य श्रुति निम्न प्रकार से करती है। सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने सत्य संकल्प किया कि मैं समष्टि-सृष्टि से व्यष्टि-सृष्टि में आऊँ। तदर्थं एक से अनेक हो जाऊँ। यह सत्य-संकल्प करते ही परमात्मा अपने विशेषणाँश से सम्पूर्ण जड़ चेतन जगत् के रूप में परिणत हो गया है। और ऐसा करके वह परमात्मा उन सभी जड़चेतन वस्तुओं के भी अन्तर्यामी रूप से प्रवेश कर गया।

'स ऐच्छत। एकोऽहं बहुस्याम।' सच्च त्यच्चा भवत्। तत्सृष्टवा तदेवानुप्राविशत्' इत्यादि श्रुतियां इसी अर्थ का प्रतिपादन करती हैं।

यह तो उक्त वाक्य का सामान्याभिप्राय हुआ। इस वाक्य का विशेषाभिप्राय है कि—

जगत् के कारणत्व का प्रतिपादन करने वाले अनेक प्रकार के वाक्य पाये जाते हैं। उनमें एक प्रकार के वाक्य ऐसे हैं जो सर्वसाधारण शब्दों के द्वारा कारण तत्त्व का निर्देश करते है। जैसे- 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि वाक्यों में सत् शब्द के द्वारा, अक्षर शब्द के द्वारा, ब्रह्म शब्द के द्वारा कारण तत्त्व का निर्देश किया गया है। ये सभी शब्द ऐसे हैं जो अनेकार्थक हैं।

ब्रह्म-शब्द का प्रयोग, ब्रह्मा परब्रह्म, ब्राह्मण, आत्माप्रकृति आदि अनेक अर्थों में होता है। ऐसे ही सत् आदि शब्दों की भी स्थिति है।

कुछ ऐसे कारणवाची वाक्य हैं जिनमें कारण तत्त्व का निर्देश केवल जीवों के ही वाचक शब्दों के द्वारा किया गया है। जैसे पेङ्गी ब्राह्मण की 'तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ' इस वाक्य में क्षेत्रज्ञ शब्द का प्रयोग के केवल जी वात्माका ही वाचक है।

कुछ ऐसे कारणवादी वाक्य हैं जिनमें कारण तत्त्व का निर्देश ऐसे शब्दों के द्वारा किया गया है जो असाधारण रूप से केवल जड़ा प्रकृति के वाचक हैं। जैसे– 'गौरनाद्यन्तवती' 'अजामेकाम् इत्यादि वाक्यों में जड़ा प्रकृति के वाचक गौरनाद्यन्तवती अजा' आदि शब्दों के द्वारा जगत् के कारण तत्त्व का निर्देश किया गया हैं।

चौथे प्रकार के वाक्य ऐसे हैं, जो कारण वादी है और जगत् के कारण तत्त्व का निर्देश करते हुए ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जो शब्द समानरूप से जीव एवं ईश्वर दोनों के वाचक हैं। जैसे– 'आत्मनः आकाशः' 'पुरिशयं पुरुषम् इत्यादि वाक्यों में आये हुए आत्मा शब्द, पुरुष शब्द समान रूप से आत्मा एवं पर-मात्मा के वाचक हैं।

पाँचवे प्रकार की कारणवादिनी कुछ श्रुतियाँ ऐसी हैं जो किसी अजड़ एवं जड़ वस्तु विशेष के असामान्य रूप से वाचक

शब्दों के द्वारा कारण तत्त्व का निर्देश करते हैं। जैसे वैश्वानर शब्द के द्वारा कारण तत्त्व का निर्देश करने वाली वैश्वानर विद्या में आयी हुई श्रुति। वैश्वानर शब्द अग्नि देवता तथा अग्निनामक महाभूत का असाधारण रूप से वाचक है।

छठे प्रकार के कारणवाचक वाक्य ऐसे हैं जो जड विशेष के असामान्य रूप से वाचक शब्दों के द्वारा कारण तत्त्व का निर्देश करते हैं। जैसे—' आकाशादेव समुत्पद्यन्ते ' इस वाक्य का आकाश शब्द कारण तत्त्व का वाचक है और आकाश नामक महाभूत का असाधारण रूप से वाचक है।

सातवें प्रकार की कारणवादिनी श्रुतियाँ वे हैं जो कारण तत्त्व का निर्देश जीव विशेष के असामान्य रूप से वाचक शब्द के द्वारा करती हैं जैसे प्रतर्दन विद्या में आयी हुई इन्द्र शब्द के द्वारा कारण तत्त्व का निर्देश करने वाली श्रुति। आठवें प्रकार के कारणवादिनी श्रुतियां वे हैं जो परम पुरुष परमात्मा के असाधारण रूप से वाचक शब्दों के द्वारा कारण तत्त्व का निर्देश करती हैं। जैसे अन्तरादित्य विद्या की श्रुति। अथवा पुरुष सूक्त की श्रुतिया।

इस तरह से वेदान्तों में आठ प्रकार की कारण तत्त्व की प्रतिपादिका श्रुतियाँ पायी जाती हैं। इन आठो प्रकार के वाक्यों में कुछ श्रुतियां तो कण्ठतः हो कारण तत्त्व का आपादान करती हैं। और कुछ श्रुतियाँ कारण तत्त्व में व्यापक रूप से पाये जाने वाले उसकी देदिव्यता तथा सीमातीत प्रकाशमानता आदि का

प्रतिपादन करके बतलाती हैं कि श्रुति में प्रोक्त-तत्त्व ही जगत् का कारण है।

इन सभी वाक्यों में पूर्वपक्षी के द्वारा कारणत्वेन निर्दिष्ट तत्त्व के हेतुओं तथा साक्षात् वाचक शब्दों के माध्यम से जड़विशेषत्व तथा चेतन विशेषत्व का प्रतिपादन किये जाने पर सिद्धान्ती ने इस बात का समर्थन किया है कि श्रुत्युक्त कारण तत्त्व सभी जड तत्त्वों तथा चेतन तत्त्वों से भिन्न है क्योंकि उन श्रुतियों में जहां कहीं भी कारण तत्त्व का निर्देश किया गया है वहां यह भी बतलाया गया है कि वह कारण तत्त्व प्राप्यत्वादि गुणों के साथ-साथ ईक्षण- विशेष, आनन्दविशेष, सर्वजगत् प्रशासकत्व अखिल-हेय-प्रत्यनीकत्व, अखिल-कल्याण-गुणाकरत्व, सम्पूर्ण जड-चेतन वस्तु धारकत्व सर्वजगत्-पतित्व सर्वान्तरात्मत्व इत्यादि गुणों से युक्त है। ये सभी गुण परमात्मा को छोड़कर किसी भी दूसरी जड-चेतन वस्तु में नहीं पाये जाते सकते हैं। अतएव तत्-तत् वाक्यों से तत्-तत् शब्दों के द्वारा जिन कारणों का निर्देश किया गया हैं, वे कारण तत्त्व के वाचक परमात्मा शब्द के ही परोक्षा-परोक्ष रूप से वाचक हैं।

एक बात यह अवश्य है कि सर्वत्र कारण तत्त्व का निर्देश करते हुए उसके ईक्षण विशेष, आनन्द विशेष प्रभृति उपयुक्त सभी गुण नहीं भी बतलाये गये हैं, किन्तु कारण तत्त्व का निर्देश किसी खास एक ही प्रकरण में तो वर्णित है नहीं। ब्रह्म सूत्र के पहले अध्याय के बतीस अधिकरणों में तथा उपनिषदों में वर्णित बतीस विद्याओं में कारण तत्त्व का निर्देश पाया जाता

है। यदि एकाधविद्याओं में कारण तत्त्व के सभी गुण नहीं ही गिनाये गये हैं तो भी उन गुणों का अनुवर्तन त व्यतिरिक्त विद्याओं में कारण तत्त्व के सभी गुण नहीं ही गिनाये गये हैं तो भी उन गुणों का अनुवर्तन तद्व्यतिरिक्त विद्याओं से हो ही जाता है। इसी अर्थ का प्रतिपादन मांसोक्त सर्वशाखाप्रत्ययन्याय करता है। अत एव सभी विद्याओं में सभी कारण वादी वाक्यों में चेतना चेतन विलक्षण जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारणभूत परंब्रह्म शब्दाभिधेय, देवता विशेष परमात्मा ही कहे गये है, अन्य कोई नहीं।

कुछ पूर्वपाक्षियों का कहना यह है कि कारणवदिनी श्रुतियों में तत् तत् शब्दों के द्वारा कारण रूप से परमात्मा भले ही कहे गये हों, किन्तु वे परमात्मा देवता विशेष हैं, यह कैसे कहा जा सकता है ? तो इसका उत्तर यह है कि ' जन्माद्यस्य यतः ' प्रभृति शरीरक मीमांसा के सभी अधिकरणों में कारण रूप से देवता विशेष का ही प्रतिपादन किया गया है। क्योंकि प्रथम ' अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ' सूत्र में यह बतलाया गया है कि ब्रह्म शब्द और भगवत शब्द मुख्या वृत्या समानार्थक हैं। भगवत्– शब्द सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण वीर्य, सम्पूर्ण तेज, सम्पूर्णशक्ति, सम्पूर्ण ज्ञान तथा सम्पूर्ण बल सम्पन्न देवता विशेष का वाचक है, यह पुराणरत्नादि ग्रन्थ बतलाते हैं।

जन्माद्यधिकरण भी तीन हेतुओं के माध्यम से देवता विशेष रूप से ब्रह्म का लक्षण बतलाता है।

(१) जन्माद्यस्य यतः सूत्र का यतः पद अनुवादक होने के कारण प्रापक वाक्यानुरोधी है। (२) और उन सवों में सत् आदि शब्द देवता विशेष पर्यन्त के बोधक हैं। (३) किञ्च यतः शब्द में पञ्चमी विभक्तिके हेत्वर्थक होने के कारण वह हेतु जगत्के अभिन्ननिमित्तोपादान कारणभूत नारायण ही है। पाशुपतमताभिप्रेत जगत् के उपादान कारण भगवान तथा निमित्त कारण महेश्वर नहीं हैं। शास्त्रयोनित्वाधिकरण कारणतत्त्व के देवता विशेष का सामान्येनोपयुक्त है। समन्वयाधिकरण देवता विशेषनिष्ठ' ही परमप्रयोजनता का प्रतिपादन करता है। क्योंकि 'आनन्दो ब्रह्म (ब्रह्म स्वयं आनन्दस्वरूप ही है।) 'रसो वै सः' (निश्चय ही वह परब्रह्म रस स्वरूप है।) इत्यादि वाक्य आनन्दवल्ली के हैं जिनका निर्णय ब्रह्मसूत्र के इस चौथे अधिकरण में किया गया है। और आनन्दवल्ली तथा अन्तरादित्यविद्या एक ही अर्थ का समर्थन करते हैं। अन्तरादित्य विद्या की कप्यास आदि श्रुतियाँ हिरण्यश्मश्रु हिरण्यकेश. आपर्णखात् सर्वएव सुवर्णम् अमल कमल दलायतेक्षण पुरुष देवता विशेष को ही बतलाती हैं।

इक्षत्यधिकरण में भी यह बतलाया गया है कि 'सत् शब्द वाच्य देवताविशेष ही है, क्योंकि वह गतिसामान्येनोक्त है।

आनन्दवल्ली तो परमात्मा का ही प्रतिपादन करती है, क्योंकि आनन्दवल्ली और अन्तरादित्यविद्या दोनों एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। इस अर्थ का ज्ञान 'अन्योन्तरात्मा नन्दमयः' इस श्रुति में अन्तरात्मा को आनन्दमय रूप से सुवा-

लोपनिषद् बतलाती है। और अन्तरादित्य विद्यामें भी 'सयश्चायं पुरुषः यश्चासावादित्ये।' इस श्रुति में आदित्यान्तरात्मा रूप से जिस पुरुष का अभिधान किया गया है वह आनन्दमय ही है। तथा उसी पुरुष का वर्णन सुबालो पनिषत् भी करती है अन्तरादित्य विद्याको परमपुरुष की आपादिका इसलिए मानना पड़ता है कि यह विद्या जिस पुरुष का प्रतिपादन करती है उसे पुण्डरीकाक्ष तथा हिरण्मयपुरुष बतलाती है। उसीं पुरुष को सभी पापों से रहित भी यह विद्या बतलाती है। इस तरह ज्ञात होता है कि पुरुष सूक्त तथा अन्तरादित्य विद्या दोनों स्थलों में वर्णित पुरुष एक ही हैं, भिन्न भिन्न नहीं। सुबालोपनिपत्द भी भगवान् श्रीमन्नारायण को सभी भूतों की अन्तरात्मा, अकर्मवश्य दिव्यगुणों से सम्पन्न देवविशेष तथा जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान कारण रूप से बतलाती हुई कहती हैं— 'एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहत पाप्मा, दिव्यो देव ऐको नारायणः'

इन अधिकरणों को छोड़कर जो आकाशाधिकरण प्राणाधिकरण ज्योतिराधिकरण तथा इन्द्रप्राणाधिकरण हैं इनमें स्थान स्थान पर श्रीभाष्य में स्पष्ट किया गया है कि ये सभी अधिकरण पुरुष सूक्त के प्रतिपाद्य परादेवता परंब्रह्म नारायण का ही प्रतिपादन करते है। शाण्डिल्य विद्याभी देवता विशेष की प्रतिपादिका है क्योंकि उसमें मनोमय, हिरण्मय, विद्युद्वर्ण वाले, भारूप पुरुष का प्रतिपादन किया गया है। सीमान्त सिन्धु के पारभूत वैष्णव परमपदकी प्रतिपादिका कठवल्ली भी भगवद्विषयिणी ही है।

उपासक के नेत्रों के भीतर उपास्यरूप से अक्ष्यन्तर विद्या में भी जिस पुरुष का प्रतिपादन किया गया है वह पुरुष भी श्रीमन्नारायण ही हैं। सुवालोपनिषद के साथ एकार्थता होने केही कारण ऊन्तयामी विद्या भी नारायण विषयिणी ही हैं। मुण्डकोपनिषद भी पूर्णरूप से परम पुरुष विषयिणी है क्योंकि ब्रह्म शब्द एवं अक्षर शब्द की पुरुष शब्द के साथ एकार्थता है। और मुण्डकोपनिषद् की वैश्वानर विद्या भी-परमात्म विषयिणी ही है। उक्त विद्या की श्रुति भी स्पष्टरूप से कहती है कि "पुरुषमपि चैन-मधीयते।"

चूकि द्युभ्वाद्यधिकरण भी मुण्डकोषनिषद् को ही अपना विषय वनाता है अतएव उस अधिकरण के भी प्रतिपाद्य परमपुरुष परमात्मा ही हैं। भूमाविद्या को विषय वनाने वाले भूमाधिकरण के भी प्रतिपाद्य भगवान् श्रीमन्नारायण ही हैं। क्योंकि उसके प्रतिपाद्य वस्तु परमात्मा सीमातीत सुखस्वरूप ही है। अतएव उस अधिकरण के तथा आनन्द वल्ली के विषय मिलते जुलते से हैं। अम्वरान्तधारक अक्षर पुरुष परमपुरुष परमात्मा ही है क्योंकि उस अम्वरान्तधारक पुरुष को सूर्य चन्द्र आदि का प्रशासक बतलाया गया है। साथ ही साथ उसकी आनन्द बल्ली तथा वृहदारण्य-कोपनिषद् के अन्तर्यामी विद्या के अनन्तर उसी की प्रत्यभिज्ञा होती है। इक्षति कर्माधिकरण के प्रतिपाद्य तो परमपुरुष ही हैं, यह स्पष्ट रूप से वतलाया गया है। दहराधिकरण मे भी 'स उत्तमः पुरुषः इत्यादि श्रुत्यंश के द्वारा परमपुरुष परमात्मा ही

प्रतिपादित किये गये हैं। इसी तरह प्रमिताधिकरण के भी विषय भूत उपासना सौकर्य के लिए प्रमितपरमपुरुष परमात्मा ही हैं। शारीरकमीमाँसा के देवताधिकरण और मधुविद्या में परम पुरुष का ही प्रतिपादन किया गया है। क्यों कि हिरण्यगर्भ, इन्द्र आदि का वहाँ गुरुशिष्यभाव प्रदर्शित किया गया है। यही नहीं जिस आदित्य को वहाँ देवताओं का मधु बतलाया है वह अन्तरादित्य विद्या का प्रतिपाद्य परंपुरुष ही है। उक्त मधुविद्या में उस परं पुरुष का माहात्म्याशिष्य प्रतिपादित किया गया है।

प्रथम अध्याय के चौथे पाद के प्रथम आनुमानिकाधिकरण में बतलाया गया है कि–'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः' अर्थात् पुरुष से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। पुरुष ही श्रेष्ठता की सीमा एवं परागति है। अतः इस अधिकरण के भी प्रतिपाद्य परम पुरुष देवता विशेष ही हैं। चमसाधिकरण में अजा प्रकृति को परम पुरुषात्मक बतलाया गया है। तृतीय संख्योप-संग्रहाधिकरण में 'यस्मिन पञ्चपञ्चजनः' यह वाक्य भगवत् परक ही है क्योंकि उसका अमृतात्म ब्रह्म शब्द से निर्देश किया गया। और बतलाया गया है कि पञ्चजन संज्ञक इन्द्रियां भी भगवान् के अधीन ही रहकर प्रवृत्त होती हैं। चूँकि कारणत्वाधिकरण का विषय आनन्द वल्ली का ही वाक्य है और सम्पूर्ण आनन्द परमात्म तत्त्व का ही निर्णय करती है। अत एव इस अधिकरण में परमात्म तत्त्व का ही प्रतिपादन किया गया है जगद्वाचित्वाधिकरण में विषय वाक्य के रूप में बालाजात शत्रु संवाद का 'यस्यवं तत्कर्म सवे वेदितव्यः' यह

है। अत एव वह किसी अर्थ विशेष में आपके पर्यवसान केलिये साकांक्ष है।

(ग) तीसरे प्रकार के कारणवाक्य ऐसे है जो ऐसे शब्दों के द्वारा कारणतत्त्व का निर्देश करते हैं जो स्वयं कारण होने में अयोग्य हैं और वे योग्य विशेष में पर्यवसित होने की आकांक्षा रखते हैं जैसे आकाश प्राण आदि शब्दों के द्वारा कारण तत्त्व का निर्देश करने वाले वाक्य।

(घ) चौथे प्रकार के वाक्य वे हैं जो कारणतत्त्व का निर्देश योग्यविशेष के प्रत्यभिज्ञापक विशेषण के द्वारा करते है-जैसे-सर्व व्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' इत्यादि वाक्य। ऐसे वाक्य बतलाते हैं कि जो सवों में व्यापक हैं, सभी भूतों की अन्तरात्मा है, वह जगत् का कारणतत्त्व है। और ऐसे नारायण ही हैं। क्योंकि ए व्याप्य नारायणः स्थितः ' यह वाक्य बतलाता है कि जगत् व्याप्य है और भगवान् नारायण उसके व्यापक है। ऐसे ही ' सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ।' वाक्य भगवान नारायण को सभी भूतों की अन्तरात्मा बतलाता है। (ङ) पाञ्चवें प्रकार के वाक्य वे हैं जो किसी योग्य विशेष कारण तत्त्व के साक्षात् उपस्थापक हैं। जैसे-हिरण्मयः पुरुषः, तस्य यथा कप्यासम पुण्डरीकमेव मक्षिणी ' ' सहस्रशीर्षा पुरुषः' ' दिव्यो देव एको नारायणः ' ' परम पुरुषम भिध्यायीत' इत्यादि श्रुतियां योग्य कारण विशेष के साक्षात् उपस्थापक हैं। और उस कारणतत्त्व को नारायण, विष्णु, परमपुरुष, सहस्रशीर्षा पुरुष' इत्यादि शब्दों से बतलाते हैं।

वाक्य ही विषय वाक्य है। और इस वाक्य का यस्य शब्द अनु-वाद स्वरूप होने के कारण प्रापक सापेक्ष है। और उसका तमेवं विद्वान ' इत्यादि वाक्य से उसकी एकार्थता वाक्यान्वयाधिकरण के 'अवस्थितेः'इत्यादि सूत्र का विषय अन्तर्यामी ब्राह्मण हैं उसमें तथा मैत्रेयी ब्राह्मण में इस अर्थ का निर्णय किया गया है कि जीवसामानगावकरण्य वाक्य भी नारायण का ही प्रतिपादन करते हैं। प्रकृत्यधिकरण में तो स्पष्ट है कि यह अधिकरण परमपुरुष विपयक है, क्योंकि इसमें पाशुपत मत के खण्डन पुरसर जगत्, के अभिन्न निमित्तो पादान कारण परंब्रह्म ही बतलाये गये हैं। और उन्हीं को रुक्मवर्णवाला पुरुष बतलाया गया है। इस तरह इन सभी-अधिकरणों में देवता विशेष का ही प्रतिपादन किया गया है।

इन अधिकरणों में व्याख्यात वाक्यों को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है।

(क) कुछ कारण वाक्यविशेष स्वयं तो अनुवाद रूप हैं और प्रापक साकांक्ष रहकर जगदेककारण जडचेतनविलक्षण देवता विशेष का प्रतिपादन करते हैं-जैसे-यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ' ' यो वै वाल्क एतेषा पुरुषाणां कर्ता। ' ये वाक्य स्वयं तो आनुवाद रूप हैं और प्रापक साकांक्ष हैं।

(ख) दूसरे तरह के वाक्य वे हैं जो साधारण शब्द से विवछित कारण तत्त्व का प्रतिपादन करते हुए विशेषाकाँक्ष हैं। जैसे-सदेव सोम्य ' इत्यादि वाक्य। इस वाक्य का सत् शब्द साधारण शब्द

इन पाञ्चों प्रकार के वाक्यों में प्रथम चार प्रकार के वाक्यों का पर्यवसान अन्तिम पांचवें प्रकार के वाक्यों में हो जाता है। और पर्यवसित होकर वे जडचेतन विलक्षण देवता विशेष को जगत् के कारण रूप से ततलाते हैं। इस तरह इस प्रथम अध्याय के अन्तिम सर्वव्याख्यानाधिकरण में भगवान वादारायण को यह अभिप्रेता है कि सभी जो अनुदाहृत भी कारणवादी वाक्य हैं, उन सवों का भी नारायण परत्व में ही पर्यवसान होता है। इस तरह इस अध्याय के चारों पादों में जितने भी उपाहृत कारणवादी वाक्य हैं, उन सवों की एक कन्ठता प्रतीत होती है।

ऐतेत सवे' व्याख्याताः व्याख्याताः।' इस न्यायाति देश के लक्ष्यभूत वाक्यों का सविस्तार वर्णन इस सूत्र की श्रुतप्रकाशिका में किया गया है। अत एव जिज्ञासुओं को इसका वही अवलो-कन करना चाहिए।

इस तरह श्री भाष्य के सर्वव्याख्यास्वाधिकरण का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

भगवत्पाद रामानुजाचार्य प्रणीत शारीरक मीमाँसाभाष्य के प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ तथा प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

—❀—

श्रोः

श्रीशारीरकमीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य
अकारादिक्रमेण सूत्राणां सूची ॥

सूत्राणि	अ-सं०	पा-सं०	सू-सं०
अपि स्मर्यते	१	३	२२।
अभिध्योपदेशाच्च	१	४	२४
अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः	१	२	३०
अल्पश्रुतेरितिचे-	१	३	२०
अर्भकौकस्त्वात्-	१	२	७
अस्मिन्नस्य च तद्योगं	१	१	२०
अवस्थितेरितिका-	१	४	२२
आकाशोऽर्थान्तरत्वा-	१	३	४२
आकाशस्तल्लिंगात्	१	१	२३
आन्दमयोऽभ्यासात्	१	१	१३
आमनन्तिचैनम्-	१	२	३३
आत्मकृतेः	१	४	२६
आनुमानिकमप्येकेषाँ	१	४	१
इ			
इतरपरामर्शात्स-	१	३	१७
ई			
ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः	१	३	१९
ईक्षतेर्नाशब्दम्	१	१	५
उ			
उत्क्रमिष्यत एवं भा-	१	४	२१
उत्तरत्न चेत्तरथेनलिंगात्	१	३	३५

सूत्राणि	अ–सं०	पा–सं०	सू–सं०
त्रयाणामेव चैवमु	१	४	६
द			
दहर उत्तरेभ्यः	१	३	१३
द्यु भ्वाद्यायतनं स्व-	१	३	१
ध			
धर्मोपपत्तेश्च	१	३	८
धृतेश्च महिम्नो-	१	३	१५
न			
न च स्मार्तमतद्धर्मा-	१	२	२०
न वक्तुरात्मोपदेशा-	१	१	३०
न संख्योपसंग्रहा	१	४	११
नानुमानमतच्छ-	१	३	३
नेतरोऽनुपपत्तेः	१	१	१७
प			
पत्यादिशब्देभ्यः	१	३	४४
परिणामात्	१	४	२७
प्रकरणाच्च	१	२	१०
प्रकरणात्	१	३	५
प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा	१	४	२३
प्रतिज्ञा विरोधात्	१	१	९

सूत्राणि	अ-सं०	पा-सं०	सू-सं०
संस्कारपरामर्शा-	१	३	३६
समाकर्षात्	१	४	१५
समननामरूप-	१	३	२९
सम्पत्तेरिति जै-	१	२	३२
सम्भोगप्राप्तिरिति चे	१	२	८
सर्वत्र प्रसिद्धोप-	१	२	१
साक्षाच्चोभयाम्ना-	१	४	२५
साच प्रशासनात्	१	३	१०
साक्षादप्यविरो-	१	२	२८
सुखविशिष्टाभि-	१	२	२५
सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भे-	१	३	४३
सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्-	१	४	२
स्थानादिव्यप-	१	२	१४
स्थित्यदानाभ्यां च-	१	३	६
स्मर्यमाणमनुमानं-	१	२	२६
स्मृतेश्च-	१	२	६
स्मृतेश्च-	१	३	३९
स्वाप्ययात्-	१	१	१०
ह			
हेयत्वावचनाच्च-	१	३	३४
	१	१	८

—: विशिष्ट ग्राहक सूची :—



श्री १००८ योगिराज महर्षि श्री देवरहा बाबा जी महाराज ने 'श्री भाष्य' हिन्दी अनुवाद समलंकृत के प्रकाशनार्थ ५०००) पांच हजार रूपये की संस्मरणीय सहायता की है।



[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

॥ पुस्तक प्राप्ति स्थान ॥



१– हिन्दी श्रीभाष्य प्रकाशन योजना समिति
श्याम सदन, मु०–कटरा, पो०–अयोध्या, जि०–फैजाबाद (उ०प्र०)

२– जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र
स्वामी रामनारायणाचार्यजी महाराज
श्री कौसलेश सदन कटरा,पो०–अयोध्या, जि०–फैजाबाद (उ०प्र०)

३– श्री स्वामी वीर राघवाचार्य शास्त्री
पुरानी यज्ञवेदी पूर्व फाटक (उत्तर स्थान) पो०–अयोध्या
पि०न० २२४१२३ फैजाबाद (उ०प्र०)

मुद्रक:—श्याम मुद्रणालय, श्याम सदन कटरा अयोध्या ।